श्री सयाजीसाहित्यमाला—पुष्प ८० वां

(धर्म्मगुच्छ)

तुलनात्मक धर्म्मविचार

अनुवादक

राज्यरत्न आत्माराम (अमृतसरी)

एज्युकेशनल इन्स्पेक्टर बड़ौदा

रचयिता

संस्कारचन्द्रिका, सृष्टिविज्ञान, वैदिकविवाहादर्श, ब्रह्मयज्ञ,
शरीरविज्ञान, आत्मस्थान विज्ञान इत्यादि इत्यादि

प्रकाशक

जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा

ई. स. १९२१ | प्रथमावृत्ति
संवत् १९७७ | प्रति ५००

मूल्य

सजिल्द १) विना जिल्द ०–१४–०

तुलनात्मक धर्म्मविचार

विषयानुक्रमणिका

(हिंदी अनुवादककी भूमिका)

प्रस्तुत पुस्तक ' तुलनात्मक धर्म्म विचार' यह महाशय एफ. बी. जेवन्स लिट्ट. डी. * डरहम यूनिवर्सीटी में फिलासोफी के प्रोफेसर की कम्पेरेटिव रिलीजन नामी पुस्तक का अनुवाद है। इस में जो मत दर्शाया गया है वह उक्त प्रोफेसर महोदय का ही मत है।

अहमदाबाद के प्रसिद्ध प्रोफेसर ध्रुव ने अपने धर्म्म संबंधी दो गुजराती ग्रन्थों में जो श्रीमन्त महाराजा साहब गायकवाड़ सरकार की आज्ञा से तय्यार कराए गए हैं जो कुछ उत्तम विचार धर्म्मान्वेषण संबंधी दर्शाए हैं उस के अनुसार हम कह सकते हैं कि आर्य्यों के प्राचीन धर्म्म के मूल ग्रन्थ वेद है, और वेदों की बड़ी भारी विशेषता और अनोखापन यह है कि उन में ज्ञान कर्म्म और उपासना तीन कांड हैं। जितने

---

* Comparative Religion by F. B. Jevons Litt. D. Professor of Philosophy in the University of Durham, published at the Cambridge University Press.

भी संसार में अन्य मत पन्थ संप्रदाय विद्यमान् हैं वह विशेष कर उपासना अथवा भक्ति एक ही काण्ड के प्रचारक तथा बोधक हैं। कई मत भक्ति के अतिरिक्त कुछ अंशतक कर्म्म काण्ड अर्थात् सांसारिक व्यवहारों का भी उपदेश करते हैं परन्तु ब्रह्मज्ञान के विषय को छोड़कर वह पदार्थ विज्ञान को बहुत कम छूते हैं। प्रायः संसार के अन्य मतों में यह भी देखा जाता है कि उन के मध्य में उक्त तीन विषयों का परस्पर विरोध होता है।

वेदों की विशेषता प्रथम तो यह है कि इनमें तीन काण्ड सम्पूर्ण रीति से वर्णित हैं यथा वेद के ज्ञान काण्ड में भौतिक पदार्थों के गुण वर्णन होने से पदार्थ विज्ञान का भी वर्णन है साथ ही जीवात्मा और परमात्मा का। इसी बात को उपनिषद् के जीवन्मुक्त तपोधन ऋषियों के वचन में हम कह सकते हैं कि वेद की विद्या दो प्रकार की है एक **अपरा** दूसरी **परा**। *

अपरा में पदार्थ विज्ञान के शास्त्र हैं और परा में ब्रह्म-विज्ञान संबंधी शास्त्र। उस ऋष्योक्त विभाग से निर्विवाद सिद्ध हो गया कि वेदों का ज्ञान काण्ड अपरा और परा विद्याओं में विभक्त तथा पूर्ण है। उसका भावार्थ यह हुआ कि वेदों का ज्ञान काण्ड अन्य मतों के धर्म्म ग्रन्थों से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

* देखो **ब्रह्मयज्ञ** अर्थात् स्तुति प्रार्थना उपासना की मीमांसा प्रकाशक **जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा**।

संसार के मतों में परिवार समाज आदि संबंध कई उपयोगी कर्म्मों का वर्णन उत्तमता से मिलता है परंतु वेद में कोई भी सांसारिक व्यवहार ऐसा नहीं जिसका बोध उत्तमता से न कराया गया हो। यज्ञ भी वेद के कर्म्म काण्ड के अंदर है। इस शब्द के समझने में जगत् में बहुत भ्रान्ति फैल रही है। संस्कृतज्ञ पंडित मानते हैं कि संस्कृत शब्दों का अनूठापन एक मात्र यह है कि इसके शब्द धातुओं से बने हुए और सदैव अर्थ बोधक रहते हैं। स्वयं संस्कृत यह शब्द भी दर्शा रहा है कि जो भाषा ' भली प्रकार से की गई ' वही इसका अर्थ है। इसी लिए संस्कृतके कोषों में हमको पहले यज्ञ शब्द के धात्विक अर्थ पर विचार करना होगा और यह कभी नहीं हो सकता कि जो अर्थ पीछे इस को दिया गया हो वह कभी भी इस के मूल अर्थ का विरोधी हो सके। सब कोषों में यज्ञ भाव के अर्थ में दिया गया है। इस में हिंसा आदि किसी भी दुष्ट कर्म्म की गन्ध तक नहीं अतः यह बात बलपूर्वक कही जा सकती है कि प्राचीन समय में यज्ञ शब्द हिंसा रहित कर्म्मों के लिए उपयुक्त होता था। हम इसी बात की पुष्टि में यह भी कथन करना चाहते हैं कि संस्कृत शब्दों के दो भाग महर्षि पाणिनी ने किए हैं एक वैदिक दूसरे लौकिक। वैदिक शब्द वह हैं जो चारों वेदों में आए हैं, इन वैदिक शब्दों संबंधी एक और शब्द शास्त्री महर्षि यास्क अर्थात् निरुक्तकार दर्शाते हैं कि वेदों के सब शब्द यौगिक हैं अर्थात् अर्थ बोधक हैं।

वेद में रूढ़ि शब्द नहीं। इस दूसरे नियम के आधार से हम यज्ञ शब्द की पड़ताल करना चाहते हैं क्योंकि यज्ञ शब्द वेदों में आया है और एक वेद जिसका नाम यजुर्वेद है, सच पूछो तो इसी विषय को लिए हुए है।

यज्ञ शब्द के अर्थ महर्षि यास्काचार्य्य निरुक्तकारने जो उस के यौगिक भाव को दर्शाने के लिए किए हैं वह संगतिकरण देवपूजा और दान त्रिविध हैं। इसका मतलब यह है कि संगतिकरण यज्ञ का प्रथम धात्विक अर्थ है जो सर्व कोषकार भाव शब्द से आज तक प्रगट कर रहे हैं। देवपूजा और दान यह अर्थ उस के प्राचीन समय में लिए जाते थे परन्तु इन तीनों शब्दों में कहीं भी हिंसा वा पशु बलिदान की गन्ध तक नहीं।

वेदों के शब्द जहां यौगिक हैं वहां एक दर्शनकार महर्षि के वचनानुसार इसके अर्थ बुद्धिपूर्वक * हैं। यही नहीं कि एक दर्शनकार ऋषि का ही मत हो किन्तु महर्षि मनु ने भी धर्म्म अनुसन्धान के लिए तर्क की अवश्यकता बतलाई है और इस बात को एहमदाबाद के प्रोफेसर ध्रुव ने भी अपने उक्त ग्रन्थों में यह कहते हुए स्वीकार किया है कि धर्म्म में भी तर्क का दखल है। बनारस हिंदु विश्वविद्यालय के स्तंभ और संस्कृत के

* देखो—सृष्टिविज्ञान A Scientific Exposition of the Purushsukta प्रकाशक जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा

भारी पंडित **श्रीयुत भगवानदास** जी ने अभी ' स्वार्थ ' नामी काशी के प्रसिद्ध मासिक में चातुर्वण्य पर एक निबन्ध लिखते हुए भी तर्क से अनुसन्धान करने के नियम को स्वीकार किया है। अतः हम कह सकते हैं कि वेद के किसी **शब्द** अथवा मंत्र के अर्थ सृष्टि नियम के विरुद्ध नहीं हो सकते। बलिदानों कि कल्पना वैदिक नहीं है। स्वयं यजुर्वेद के पहले मंत्र में ' श्रेष्ठतम कर्म्म ' * को ही यज्ञ दर्शाया है। इसी मंत्र में पशुरक्षा का इतना स्पष्ट विधान है, कि उसका दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता यथा **पशून पाहि** अर्थात् पशुओं की रक्षा करो। हर्ष का विषय है कि युरोप के निष्पक्ष पंडित भी प्रोफेसर मैक्समूलर आदि. ऋषियों के पुराने अर्थों की पुष्टि में स्पष्ट लिख रहे हैं कि प्राचीन काल में यज्ञ में पशु बलिदान नहीं होते थे। यह बात प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **फिज़ीकल बेसिज़ आफ रिलीजन** में लिखी है कि यज्ञ शब्द के अर्थ कार्य्य वा कर्म्म के हैं पशु बलिदान के नहीं। एक और विद्वान् कोलब्रुक इस विषय में इस प्रकार लिखते हैं जिससे सिद्ध हो जायगा कि अश्वमेधादि यज्ञों में हिंसा नहीं होती थी।

"The Ashwamedha and Purushmedha celebrated in the manner directed by this Yajurveda are not really sacrifices of horses & men"

* देखो **संस्कारचंद्रिका** अर्थात् १६ संस्कारो की व्याख्या प्रकाशक जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा

(अर्थ) " अश्वमेध और पुरुष मेध जो इस रीति पर इस यजुर्वेद अनुसार किये जाते थे वह वास्तव में घोड़ों और मनुष्यों के बलिदान नहीं हैं। "

यह ठीक है कि बुद्धदेव के समय भारत में अनेक स्थलों पर स्वार्थवश लोग यज्ञ के साथ पशु बलिदान भी करने लग गए थे और इसी लिए बुद्धदेव ने तद्विषयक सुधार किया। अब जब कि पूर्व और पश्चिम के पंडित जिज्ञासु होकर अनुसन्धान करने लगे हैं तो शीघ्र ही यह बात दृढ़ हो जाएगी कि यज्ञ में पशु बलिदान आदि काल में नहीं था और आगे को न होना चाहिए। वैदिक काल की देवपूजा जैसा कि यास्काचार्य्यने लिखा है सृष्टि के पदार्थों का उपयोग था।

वैदिक उपासना काण्ड के विषय में हमें इस शब्द के धात्विक अर्थों पर विचार करना होगा इसका अर्थ निकटवर्ती होना है। ईश्वर जो सर्व शुभ गुणों का भण्डार है उसके निकट वर्ती होना अथवा उसके गुणों को धारण करना यही उपासना है। ईश्वर एक भूगोल का पति ही नहीं किन्तु विश्व का स्वामी और विश्व से संबंध रखने वाला, वेदों में दर्शाया गया है। यथा

(१) य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते...........

(२) पादोऽस्य विश्वा भूतानि......................

(३) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च...........इत्यादि मंत्रों में वह विश्वपति विश्व रचने हारा और विश्व में व्यापक

दर्शाया गया है, इस लिए वेदमें मा मित्रस्य **चक्षुषा** सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं **चक्षुषा** सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य **चक्षुषा** समीक्षा महे ।

इस में सर्व भूत अर्थात् प्राणिमात्र वा मनुष्य पशु इत्यादि सर्व के साथ प्रेम का व्यवहार करने का आदर्श दिखाया गया है और सर्व मनुष्य समाज परस्पर प्रेम का व्यवहार करें यह भी बोधन कराया है। इसी संबंध में **मा गृधः कस्य स्विद्धनम्** वेद के इस मंत्र में किसी भी मनुष्य मात्र के धन को अन्याय से लेना वार्जित किया गया है और उपासना का फल शान्ति उसी को प्राप्त हो सकती है जो सर्व मनुष्य मात्र तथा प्राणि-मात्र से प्रेम का व्यवहार करता है जैसे " यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मान्येवानुपश्यति सर्व भूतेषुचात्मानं " इत्यादि । इस लिए वैदिक उपासना काण्ड शान्तियुग परिवर्तक है यह बात निर्विवाद है। मनुष्य मात्र से जो प्रेम करने का उपदेश तथा आदर्श इसमें है वह अद्‌भुत है। ईश्वर भक्त संन्यासी अथवा ब्रह्म उपासक सदेव समयदर्शी हो कर सर्व मनुष्य मात्र से प्रेम का व्यवहार करें यह श्रीकृष्णदेव ने गीता में उपदेश किया। कृष्ण-देव गीता में कहते हैं कि ' **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभम्** ' हे मनुष्यो तुमको शुभ या अशुभ कर्म्म भोगने पड़ेंगे और वेद में **ओ३म् क्रतो स्मर कृतेस्मर** अर्थात् हे स्वतंत्रता से कर्म्म करनेवाले जीव तू सर्व रक्षक ईश्वर के गुणों को याद रख भूल नहीं और याद रख कि जो

तूने कर्म्म किए हैं उसका फल अवश्य मिलेगा। आर्य्य प्रजा आदि काल से लेकर आज तक कर्म्म सिद्धान्त को मानती चली आरही है। पशु बलिदान वही कर सकता है जो अपने किए हुए पापों के बदले किसी दूसरे प्राणी का पाप भोगना समझता है। आर्य्य प्रजा कभी यह बात स्वीकार नहीं कर सकती कि व्यक्ति अथवा समाज के किए हुए पाप किसी पशु की हिंसा से कभी क्षमा किए जा सकते हैं। आर्य्य प्रजा का अटल विश्वास है कि कृष्ण देव से योगिराज उसको सन्मार्ग दर्शा सकते हैं किन्तु उसके पापों को क्षमा कर वा करा नहीं सकते कारण कि वह गीता में स्पष्ट कह रहे है कि मनुष्यो तुमको अपने कर्म्म भोगने पड़ेगें।

बड़ोदा
१ मार्च १९२० } आत्माराम

प्रथम प्रकरण

प्रस्तावना

पने देवताओं से मनुष्यों का कैसा संबंध है, इस प्रश्न को व्यवहारिक अनुभव द्वारा निर्णय करने के प्रयत्न में प्रत्येक काल में मनुष्य लगे हुए पाए गए हैं। इस प्रकार के बहुतसे तजुर्बे हो चुके हैं, और अभी जारी हैं, और यह भूतकालमें गए बीते और वर्तमान कालमें मौजूद अनेक धर्म्मों के रूप में माने जाते हैं।

ऐसे तजुर्बे बहुत हो चुके हैं तथा प्रत्येक तजुर्बा दूसरे तजुर्बे से बिलकुल भिन्न प्रकार का होने से उनमें सामान्यता भी पाई जाती है और इस तरह से उनमें भेद और सामान्यता के मौजूद होने पर ही उनकी तुलना हो सकती है। उन के भेद में रहे हुए सामान्यता के कारण और उनकी सामान्यता में रहे हुए भेद के कारण, तुलनात्मक पद्धतिसे अथवा तुलनात्मक धर्म्म विचार पद्धति द्वारा उनका अध्ययन करना आवश्यक है। इस पद्धतिको काम में लाने से, तुलना करने का उद्देश्य केवल संसार के भिन्न भिन्न धर्म्मों में रही सामान्यता का फैसला करना जो माना जावे तो इस में भय रहता है। परन्तु इस प्रकार मानना यह वैज्ञानिक उपयोग के लिए तुलनात्मक पद्धति से प्रगट होनेवाले भेद भी सामान्यता जैसे जरूरी और वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक अमूल्य हैं, इस स्पष्ट बातको दृष्टि से दूर रखने के समान है। तुलनात्मक भाषा शास्त्र में भाषाओंकी तुलना करने में वैज्ञानिक दृष्टि से सामान्यता जितनी खास ज़रूरी मालूम होती है उतने ही ज़रूरी भेद गिने गए हैं। व्यवहार में तो प्रत्येक की अपनी भाषा और दूसरी भाषा में रहे हुए भेदसे वे एक दूसरे से भिन्न हैं यह बात आप समझ सकते हैं। जैसे दूसरी भाषा का ज्ञान आप अपनी भाषा द्वारा अच्छी तरह प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही आप अपनी भाषा में अधिक स्पष्टता से विचार कर सकते हैं, इस बात में जरा भी संशय

नहीं तथा प्रत्येक की अपनी भाषा में उच्चारण और व्याकरण के दोष रहने की संभावना कम रहती है।

मनुष्यों का अपने देवताओं से कैसा संबंध है, इस प्रश्न का व्यवहारिक निर्णय करने में प्राचीन तथा वर्तमान काल में मनुष्य लगे हुए प्रतीत होते हैं। जिन प्रजाओं के इतिहास वृत्तान्त लिखे गए हैं, उन प्रजाओंने इस विषयमें किस मार्ग का अवलंबन किया है, यह बात हम उनके इतिहास पर से जान सकते हैं। जिनके ऐसे इतिहास हैं उन प्रजाओं को संसार की उन्नत प्रजा के रूप में गिना गया है। जिन प्रजाओं के ऐतिहासिक वृत्तान्त नहीं मिलते वह संसार में अनार्य प्रजा गिनी गई हैं। यद्यपि ऐसी प्रजाओं का लिखित इतिहास नहीं मिलता तो भी दूसरे प्रकार से उनकी प्राचीन दशा का शुद्ध अशुद्ध वृत्तान्त मिल जाता है। मनुष्य जाति के आरंभकाल से जितना उनका भेद है उतना ही भेद उस काल की बहुत कुछ उन्नत प्रजाओं का भी है। हम उनकी प्राचीन दशा की कल्पना तथा अनुमान से उनकी रचना कर सकते हैं। परन्तु ऐसी कल्पनाएं और रचनाएं उन्नत प्रजाओं के अपने सुरक्षित प्राचीन ऐतिहासिक लेखों द्वारा उपलब्ध ज्ञान की अपेक्षा बहुत कम विश्वसनीय और अत्यंत तुच्छ कीमत की होती हैं। वास्तव में देवताओं से अपना कैसा संबंध है इस प्रश्न के निर्णय के लिए मनुष्यों ने कैसा प्रयत्न किया है और

तुम कैसा करते हो इस का निर्णय करने की जो इच्छा हो तो उसके लिए हमें सुधरी हुई प्रजाओं के ऐतिहासिक लेख सब से बढ़ कर ज़रूरी होंगे।

लेखी इतिहास रखने वाले धर्म्मों के दो विभाग हो सकते हैं। प्राचीन इजिप्ट (मिसर देश) बैबिलोनिया, असीरिया प्राचीन ग्रीस और रोम तथा ट्यूटन प्रजा के धर्म्मों जैसो जो धर्म्म अब नहीं रहे हैं उनका हम पहले विभाग में रखेंगे और दूसरे विभाग में हम वर्तमान प्रचलित धर्म्मों को रखेंगे जैसा कि चीनी, याहूदी धर्म्म, वैदिक धर्म्म, ब्राह्मण धर्म्म, हिंदु धर्म्म, इस्लाम धर्म्म, बौद्ध धर्म्म और ईसाई धर्म्म। जिन धर्म्मों का लिखित इतिहास नहीं ऐसे धर्म्म अफरीका, अमेरिका के प्राचीन रहवासियों में, आस्ट्रेलिया में दक्षिण समुद्र के द्वीपों में और मंगोलिया में मिलते हैं।

एक प्रकार से सृष्टि क्रम के नियमों में आत्म संरक्षण का नियम मुख्य गिना जाता है। वह ऐसा है कि जो मनुष्य व इतर प्राणी इस नियम का पालन नहीं करते उनकी सन्तान का अन्त उनके जीवन के साथ ही हो जाता है। इस नियम के पालन किए विना आगे सिलसिला नहीं चलेगा। मनुष्यों के बड़े भाग का इस नियम के पालन करने से भी उसको सृष्टि क्रम का प्रथम नियम गिन सकते हैं। तो भी कई प्रसंगों पर और कई मनुष्यों के संबंधमें इस नियम को वास्तविक रीति पर मुख्य

स्थान नहीं मिलता ऐसा बहुत से मानते हैं। अपने ऊपर पड़ी हुई अथवा पड़नेवाली कठिनाइयों में से अपना बचाव करने के लिए प्रत्येक मनुष्य पूरा यत्न करता है। आरंभ से ही मनुष्य सामाजिक प्राणी था कि नहीं इस प्रश्न को एक तरफ रखें तो भी यह सिद्ध ही है कि उसको बहुत सी कठिनाइयों में से सुरक्षित रहने के लिए प्रथम से ही अथवा कई अनुभवों के परिणाम से समाज का आश्रय लेने के लिए सहकार्य्य से तथा कार्य्य विभाग से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त किए हैं। समाज का बचाव ही उसका अपना बचाव और समाज का संरक्षण यही अपना संरक्षण था। समाज अथवा मनुष्यों को त्रास देने वाले कई भयों के तथा पीड़ित करने वाले कई आपत्तियों के उत्पादक प्रत्यक्ष देखने में आते थे परंतु दूसरी कई आपत्तियों के उत्पादक देखने में नहीं आते थे। यदि ऐसी आपात्तिएं समाज अथवा व्यक्ति पर आजातीं तो समाज अथवा व्यक्ति को उनके दूर करने के लिए उन के गुप्त उत्पादकों को शान्त करना चाहिये ऐसा माना जाता था, कारण कि जो जो आफतें समाज पर आ पड़तीं हैं उसका कोई भी तो कारण होना चाहिए, ऐसी धारणा पहले थी और अब भी है। छोटे बड़े सब धर्म्मों में बहुत करके ऐसा माना गया है कि कोई भी व्यक्ति अथवा शक्ति के संचार से समाज पर आपत्तिएं आती हैं। जिन प्रजाओं के लिखित इतिहास प्राप्त होते हैं उनमें उच्च स्थिति को प्राप्त हुए धर्म्मों में ऐसी व्यक्ति अथवा शक्ति को देवता के रूप में माना जाता है और उनके

नाम और उनकी कथाएं भी की जाती हैं। जिन प्रजाओं के लिखित इतिहास नहीं मिलते उन में भी थोड़ी बहुत उन्नति को प्राप्त हुए मतों में जो व्यक्ति अथवा शक्ति आफत भेजती है और खुद प्रजा में उनका संचार करती है उनका नाम अथवा उनकी कथाएं नहीं होतीं यह स्पष्ट ही है। उन्नत दशा को पहुंचे हुए मतों में भी एक समय ऐसा होना चाहिए जब कि उनके देवताओंका नाम तथा कथाएं नहीं बनाई गई हों। इस पर से हम जान सकते हैं कि प्रजा पर इस प्रकार से पड़ी हुई आफत, किसी मूर्तिमान् व्यक्ति अथवा शक्ति के रूप में मानी जाती है, आरंभ में इस व्यक्ति अथवा शक्ति की ठीक कल्पना करने में नहीं आती परन्तु पीछे से उसे निश्चय रीतिपर मूर्तिमती शक्ति के रूप में मानी जाती है। उनके संचार से मुक्त होनेकी इच्छा प्रजा करती है और प्रजा की ओर से उस का मुखिया उस दुःखदायिनी शक्ति को चले जाने के लिए विनंति करता है और ऐसी बात हो जाने के लिये बलिदान देते हैं। परन्तु कारण विना कोई कार्य्य होता नहीं इस लिए कल्पित मूर्तिमती व्यक्ति के संचार के कारण ढूंडने लगते हैं और उन व्यक्तिओं के समाज पर आफत के डालने से हम में से किसीने अपकृत्य किया होगा जिस से उसको क्रोध हुआ, ऐसा मानकर वह बैठे रहते हैं। समाज की सामान्य रूढ़ि के भंग-होने के डरसे जिन बातों को समाज निषिद्ध मानता है उनको स्वीकार करने से तथा देवताओं के लिए पवित्र रखी वस्तुओं के

भ्रष्ट करने से ऐसा अपकृत्य होता है ऐसा भी वह मान लेते हैं।

इस प्रकार समाज जिसे स्वयं निषिद्ध मानता है उसका निषेध समाज में आपत्ति लाने वाली किसी अनिश्चित मूर्तिमती शक्तिने किया है ऐसा परिणाम निकाला जाता है। चीन में ऐसा माना जाता है कि "प्रजा की ओर से जो अनादर होता है इस के परिणाम में आकाश देवता के क्रोध होने से प्लेग, महामारी और अकाल पड़ता है।"

अबतक हमने प्रजा पर पड़ने वाली आपत्तियों और जहां तक हो सके समस्त प्रजा की ओरसे रोकने के उपायों संबंधी विचार किया है। बीमारी मृत्यु वगैरे आपत्तिएं ऐसी हैं कि जो मात्र एक व्यक्तिपर आ पड़ती हैं और उस को दूर करने का प्रयत्न उस के मित्र तथा निकट संबंधी ही करते हैं। ऐसी आपत्तियों के भी उत्पादक होते हैं और जो इन को निर्मूल करना हो तो इन उत्पादकों को ढूंड निकालना चाहिए। ऐसी शोध प्रजा के अग्रगन्ता की ओरसे नहीं परन्तु दुःख भोगने वाली व्यक्तियों की ओरसे करने में आती है। इसको निजूबात समझें परन्तु समस्त प्रजा का इस के साथ कोई संबंध नहीं।

इस पर जादु तथा कई धार्म्मिक विधिओं का एक प्रकार से भेद स्पष्ट रीति से समझ में आता है। जादु का व्यक्ति गत संबंध है और धर्म्म का समाज तथा प्रजा के साथ संबंध है। जब शिक्षण बहुत थोड़ा होता है तब साधारण रीति

से किसी मनुष्य के अभिचार कर्म्म को ही एक व्यक्ति की बीमारी अथवा मरण का निमित्त गिनने में आता है। ऐसा मनुष्य अपने खास प्रगट रूप वर्ताव अथवा गुण पर से पहचाना पहचाना जाता है और ऐसा मनुष्य ही अनर्थ करने के लिए शक्तिमान् और इच्छा करने वाला हो सकता है यह समाज मानता है। अपने अन्दरही अनर्थ करने की शक्ति है ऐसी सूचना मिलने पर स्वयम् ही ताकत रखता है ऐसा मानने तथा वैसे ही अजमाने का प्रयत्न करने के लिए वह मनुष्य प्रवृत्त हो यह संभव है। वह अपनी ताकत अनेक प्रकार से अजमाने के लिए तय्यार होता है और उसने अपनी ताकत का उपयोग करना शुरु किया है ऐसा समाज ख्याल करता है। बहुत करके वह मनुष्यों पर अपनी ताकत अजमाता है ऐसा पहले माना जाता है। तत्पश्चात् मनुष्य अतिरिक्त अन्य व्यक्तिओं पर भी अपनी शक्ति चलाने के लिए वह दूसरा कदम उठाता है। अशुर्बनीपाल के पुस्तकालयमें से एक पश्चाताप कीर्तन में एक बैबिलोनी भक्त अपनी सहायता के लिए बुलाए हुए जादुगर की निष्फलता विषयक अपने देवता से फर्य्याद कर कहता हे। कि " जादुगरने जादु द्वारा मेरी आफत दूर नहीं की, टूना बाज मेरी बीमारी का इलाज करने में सफल नहीं हुआ तथा धर्म्मगुरु भी मेरे दुःखको मिटा नहीं सका "। पुराने िसर में जिस प्रकार अभिचार कर्म्मों और उनके प्रतिकारों ने प्रजा के धर्म्म में अपना पद प्राप्त किया था

वैसे ही बैबिलोनिया में भी हुआ मालूम पड़ता है और इस पर वहां, उस के धर्म्म में अन्तर्भाव किया हुआ प्रतीत होता है।

जो जादु के तजुर्बे समाज को हानि पहुंचानेके लिए, व्यक्तिकी तरफ से अज़माए जाते हैं उन से समाज के देवताओं को कोप होता है ऐसा माना जाता है। और ऐसी क्रियाओं को अधार्म्मिक समझ कर दूषित ठहराया जाता है। पर जब तक सर्वसामान्य उपद्रवों से पीड़ित समाज उन के निवारण करने के लिए बलिदान देकर उन के उत्पादकों को विसर्जन होने की प्रार्थना करने के उपरान्त कुछभी विशेष कर नहीं सकता, वहां तक ऊपर बताए हुए दोष कमज़ोर और व्यर्थ हैं। ऐसी दशामें भी जादु अथवा तत्संबंधी प्रतिकार क्रिया करके अपने आत्मबल से मनुष्यों को देवताओं को अथवा भूत आदि को आधीन रखनेवाले मनुष्य और अपने नेताद्वारा आई हुई आफत को दूर करने के लिए प्रार्थना करने वाला समाज, इन दोनों के दरम्यान का अच्छी तरह फरक मालूम होता है।

अभी तक हमने मनुष्यों पर पड़ने वाली आफतों तथा उपद्रवों के होने वाले कारण पूरे तौर से नहीं लिखे भूत प्रेत के विषय में हमको अभी कुछ कहना बाकी है। देवताओं और जादुगरों जितना ही उनका भी विस्तार दुनिया में देखने में आता है और भूतादि के आविर्भाव होने से आफतें आती

हैं कि नहीं यह प्रश्न एक तरफ रखा जाए तो भी इतना तो सिद्ध ही है कि उनका स्वरूप मात्र त्रासजनक होता है। ऐसे प्रसंग पर उनको चले जाने के लिए लालच का यत्न करना यह स्वाभाविक और व्यवहारिक उपाय प्राचीन काल से किया जा रहा है और बहुत कुछ प्रेत क्रियाओं का यही उद्देश्य देखने में आता है।

इस प्रकार व्यक्तिओं और समाजों पर आनेवाली विपत्तियों के तीन कारण हो सकते हैं; (१) क्षोभयुक्त प्रेत (२) मनुष्यों की वैर बुद्धि वाली जादुभरी शक्ति और (३) कोपायमान अलौकिक व्यक्तिओं की सत्ता। जादुगरों वा चुड़ैलों के प्रयोगों द्वारा व्यक्तिओं पर जो आफतें पैदा की जाती थीं, वह किसी मनुष्य की वैर बुद्धि का परिणाम है ऐसा माना जाता था और दूसरे दो कारणों से समाज पर आई हुई आफतों के संबंध में हमसे समाज के प्रचलित रिवाज में कुछ परिवर्तन हुआ है और इस लिए यह आफत आई है ऐसा माना जाता था, समाज में प्रचलित नीति के नियमों का उलंघन करने से अथवा देवादि निमित्त पवित्र रखी हुई वस्तुओं को भ्रष्ट करने से समाज के रीति का भंग होताथा और प्रचलित रिवाज को बदलने की बन्दिश की गई हो ऐसा मालूम होता है। ऐसे ख्याल के लिए ही नीति के सर्व प्राचीन नियम निषेधात्मक स्वरूप में रचे गए होंगे जैसे कि ‘ तुम्हें अमुक नहीं करना ’ और सब प्राचीन धर्म्मों में, दुःख जो

समाज पर आता है वह किसी जाति के धार्म्मिक नियम को भंग करने से आता है। मनुष्य अपने पर दुःख किसी वर्जित काम को करने से लाता है या किसी रीति रिवाज को तोड़ने से।

क्रोधित व्यक्ति अथवा शक्ति के केवल चले जाने के निमित्त प्रार्थना की जाती है और ऐसा करने से वह लालच में आए इस लिए उसको बलिदान दिया जाता है। परन्तु वह सदैव दूर रहने के लालच में पड़े इस लिए पुनः पुनः ऐसे बलिदान दिए जाते हैं। वास्तविक रीति से यदि देखा जाय तो प्रत्येक स्थान में देवताओं के यज्ञ और मृतक श्राद्धादि क्रियाएं नियत ऋतुओं में पुनः पुनः की जाती हैं या बहुत करके इसका प्रारंभ होता है उसी समय से समाज तथा शक्तियों के संबंध का धीमे धीमे परिवर्तन परंच विकास होता दिखाई देता है। जब बलिदान करने की क्रिया समाज की रीति बन जाती है तो जिस व्यक्ति के लिए बलिदान किया जाता है वह व्यक्ति भी समाज के मन में दृढ़ होती देखी जाती है। उन व्यक्तियों को अब पराई नहीं समझा जाता तो विरोधी किस प्रकार गिनी जांए? ऊपर निर्दिष्टानुसार बलिदान देने पर भी यदि समाज पर आफतें आती रहें तो प्रार्थना के रूप में परिवर्तन करने में आता है और उत्पादक शक्ति के चले जाने के बदले में क्रोध शान्त करके भगतों पर कृपा करने की प्रार्थना की जाती है। संसार के बहुत कुछ इतिहास रखने वाले धर्म्मों में इस प्रसङ्गपर भूत प्रेत आदि को केवल चले

जाने के लिए नहीं पर कभी भी नजर नहीं आवे इसी लिए दूर रहने की प्रार्थना की जाती है। स्वप्न में अथवा पिशाच रूप में उसका पुनरागमन होता है तो वह बहुत बुरा समझा जाता है और यथाविधि प्रेत संबंधी कार्य्य न होने से उनकी अवनति हुई है ऐसा माना जाता है। इस प्रकार मरे हुए को लक्ष्य बना कर की जाने वाली प्रेत क्रियाओं को भूत प्रेत आदि के पीड़ा से मनुष्यों को बचा रखने के साधन रूप माने गए हैं। मनुष्यों को भूत प्रेत आदि से कुछ भय होनेकी संभावना है पर उनसे कुछ भी लाभ प्राप्त होने की आशा नहीं होती। समाज अपनी आवश्यकता के पूरा करने के लिए तथा अपनी इच्छाओं की पूर्ति निमित्त जिन व्यक्तिओं की वह भक्ति करता है उन की ही सहायता मांगता है। पितृ भक्ति को अलग करने वाली धार्मिक उन्नति की इस दिशा में प्राचीन मिसर बेबिलोनिया असीरिया की प्रजा तथा यहूदी प्राचीन ईरानी और बौद्धों (जो इस कारण से नहीं परन्तु दूसरे कारण से) ने आगे उन्नति की है। पर धार्मिकोन्नति की प्रवृत्ति एक ही तरफ न होने से तथा प्रत्येक धर्म स्वतंत्र प्रकार से उन्नति प्राप्त करने से अधिकांश चीनी लोगों में और थोड़े अंश में बहुत कुछ आर्य्य प्रजा में प्राचीन काल से पितृ और देवताओं की भक्ति करने का रिवाज प्रचलित रहा मालूम पड़ता है। यद्यपि पितृ पूजा का मुख्य उद्देश्य आपत्ति रोकने का

होता है तथापि लौकिक सुख प्राप्त करने के साधनरूप में भी उसका उपयोग देखने में आता है।

हम सामान्य रीति से कह सकते हैं कि समाज पर पड़ने वाली आफतों को, समाजकी प्रचलित नीति वा रीतिके किसी मनुष्य द्वारा भंग होने से, अमानुष व्यक्ति तथा शक्ति के संचार रूप में माना जाता है, और जिस शक्ति वा देवता का अपराध हुवा हो उसके कोप को शान्त करने, अनुग्रह प्राप्त करने और अपना प्रायश्चित्त दूर करने के लिए उसको बलिदान दिया जाता है।

सिलोम के मिनार के गिरने का कारण, किसी के किये अपराध पर से किसी अमानुष व्यक्ति अथवा शक्ति का हुआ कोप है ऐसा हेतु दिया जाता है। प्राचीन रीतिरिवाज के अतिक्रमण और समाज की प्रचलित नीति विरुद्ध आचरण करने से मनुष्य अपने ऊपर लौकिक आफतें लाता है इस दृष्टि से जहां तक हमने आगे उन्नति नहीं की तब तक ऊपर के हेतु अपने को यद्यपि स्वाभाविक मालूम होते हैं तथापि बहुत कुछ भारी लिखित इतिहास वाले धर्म्मों में अपराध का प्रायश्चित्त करके बलिदान और यज्ञ से देवताओं को शान्त करने के निमित्त अधिक ध्यान दिया गया है यह बात लक्ष्य रखने योग्य है। बुद्धने जो उपदेश दिया है उसमें अपराध को ही निर्मूल करने से मनुष्य पीड़ा से दूर रहता है ऐसा बताया गया है यथा प्रचलित नीति का अति-

क्रमण न करो, केवल अपराध करतेही रुको नहीं पर जिस से अपराध जरूर होते हैं ऐसी तृष्णाओं को छोड़ो और सर्व अपराधों का मूलरूप जीवन की तृष्णा में से निवृत्त हो जाओ। इस प्रकार करने से अपराध होही नहीं सकेंगे, ऐसा भी बुद्ध भगवान बताते हैं। जिस नियम पर चलकर देवता इत्यादि के लिए पवित्र रखी हुई वस्तुओं को भ्रष्ट नहीं करने की आज्ञा की गई है, जिसके अनुसार 'तुम मत करो' ऐसी मनाही करने में ही नीतिवचनों की मर्य्यादा रखी गई है और जिसके लिए देवादि का भय प्रधान रखकर ही कई धर्म्मों के सिद्धान्त रचे गए हैं ऐसे धर्म्मों और नीति के निषेधात्मक नियमों की पराकाष्ठा रूप बुद्ध भगवान के ऊपर दर्शाए हुए सिद्धान्त हैं, और यह तार्किक दृष्टि के परिणाम होने से उनका उल्लेख वारंवार देखने में नहीं आता। इस निषेधात्मक सिद्धान्त को सर्वांश में लगाएं तो निषेधात्मक सिद्धान्तों पर रचित सब धार्मिक और नैतिक संप्रदायों का तार्किक पद्धति से खंडन स्वयमेव हो जाता है। जहां देवताओं को केवल अतिक्रमण का दंड करने के लिए ही स्वीकार किया है वहां अतिक्रमण का निषेध होने से देवता निरुपयोगी होते हैं, और देवताओं का स्वीकार करना व्यर्थ होता है। बुद्ध का ऐसा मत है और बुद्ध स्वरूप देव के रूपमें पूजा जाता है उसका कारण यह नहीं कि वह अतिक्रमण के दंडका देनेवाला होने से उसको देव मानना चाहिए परन्तु ठीक कारण तो यह है कि तार्किक पृथक्करण की पद्धति अनुसार

बुद्धने ईश्वरका जो विचार दिया है उसके प्रमाणमें उसके अनुयाईयोंने ईश्वर के विषयमें कई विशेष ख्याल रचे हुए हैं। बुद्धधर्म के स्तंभ रूप बुद्धके उपदशोंकी गर्भित प्रतिज्ञा जो स्पष्ट शब्दों दर्शाई नहीं गई है, वह यह थी कि 'ईश्वर संबंधी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं' ऐसा होनेपर भी बुद्धधर्मका इतिहास दिखाता है कि ईश्वरको माने विना चल नहीं सकता।

मूर्तिमान् ईश्वर को नहीं मानने के परिणाम में निष्फल हुए हों ऐसे प्रयत्न प्राचीन ईरानमें जरथुस्त्र के उपदेशों में किया गया देखने में आता है। यह समझने के लिए हम पूर्व निर्दिष्ट मतों का एकवार पुनः दिग्दर्शन कर आगे लिखेंगे।

मनुष्य व्यक्तिपर और जन समुदायपर जो आफतें आ पड़ती हैं यह अस्पष्ट रीतिसे कल्पना की गई व्यक्तियों अथवा शक्तियों के कृत्य हैं। जादुगरों के प्रयोग तथा भूत प्रेत आदि अथवा कोई भी मूर्तिमती व्यक्ति अथवा शक्ति के संचार द्वारा आफतें आती हैं और जो सत्ता आफतें भेजती है उसको यथाविधि संतुष्ट करनेसे आनेवाली आफतें रुकती हैं और आई हुई दूर होती हैं। इसमें यह ख्याल किया जाता है कि आफतों का पैदा करने वाला नरमादिल है और उसके कोप के कारण को दूर करनेसे वह आफतों को पीछे हटालेता है। वह स्वाभाविक ही द्वेषबुद्धि वाला है यह माना नहीं जाता। उसकी सहायता लेनेवाला जादुगर अथवा कोई दूसरा मनुष्य द्वेषी

हो सकता है और वैसे ही ऐसा मनुष्य मरकर भूत प्रेत आदि योनि में भी द्वेषबुद्धिवाला रह सकता है। मनुष्यों और भूतप्रेत आदिके सिवाय दूसरी व्यक्तियों में स्वाभाविक द्वेषबुद्धि होती है कि नहीं इस प्रश्न का पहेलेसे ही निर्णय हो नहीं सकता परन्तु वैसी व्यक्तियों को शान्त करने के पीछे यदि सफलता प्राप्त होवे तो व्यक्ति को शान्त मानकर काल के व्यतीत होने पर उसकी नित्य आराधना करनेमें आती है। और वह प्रयत्न यदि निष्फल जाए तो वैसी व्यक्ति को स्वाभाविक द्वेषबुद्धिवाली और उग्र मानने में आती है।

अग्निदेवता के पूजक धर्मगुरु जरथुस्त्रने अपने समय में इस प्रकार के विचार मौजूद पाये। कितनी शक्तिएं उग्र और द्वेषबुद्धिवाली होनेसे दुष्ट मानीजातीं और दूसरी पवित्र अग्नि देवता जैसी, मुख्य रूप में पवित्रता वाली अशुद्धि को शुद्ध करनेवाली और ईमानदारी कि शक्तिएं शुभ मानी जातीं थीं। जरथुस्त्र के उपदेशानुसार दुनियां के सब व्यवहारों का संगठन मलीनता और पवित्रता इन दो विरोधी तत्वों पर रचा हुआ है। तत्वों के द्वन्द्व भाव को ही उसका सिद्धान्तरूप माना जाता है और गाथाओं में दैवी शक्ति मूर्तिमती व्यक्ति के रूप में नहीं पर एक तत्व रूप में मानी गई है। अहुरमझद यह विशेष नाम अथवा पुरुषवाचक नाम नहीं परन्तु यह 'प्रज्ञान' के अर्थ में लिया गया शब्द है।

परन्तु इस धर्म्म के अनुयायी मूर्तिमान् ईश्वर के बदले एक तत्व को ही ईश्वर मान कर संतुष्ट नहीं हुए और मिथ्र और अनाहित का धर्म्म में अंतर्भाव होने से अहुरमझद के मूर्तिमान् स्वरूप की कल्पना की गई है और ऐसा करने से ज़रथुस्त्र के गूढ़ तत्व अनेक देववाद रूपी निचली ज़मीन पर पड़ गए।

अब तक हमने इस जीवन में मनुष्यों का उनके देवों के प्रति कैसा संबंध है उसका विचार किया, कारण कि लिखित इतिहास रखने वाले दुनियां के बहुत से धर्म्मों में आरंभ में तथा पीछे भी इस मर्य्यादा का पालन किया गया है। 'कबर में मनुष्य तेरी स्तुति करते नहीं' ऐसा दृढ़ विश्वास केवल यहूदियों में ही देखने में आता है ऐसा नहीं परन्तु गुप्त प्रयोगों के आरंभ होने के पूर्व ग्रीक तथा रोमन लोगों में, हमेशा बैबिलोनिया में, असीरिया के लोगों में तथा अभी तक चीनीओं तथा हिंदु धर्म्म के कई संप्रदायों में ऐसा विश्वास पाया जाता है। मृत मनुष्य यह संसार छोड़ कर चले जाते हैं, और जीवित मनुष्यों को, उनको भूत प्रेतादि के स्वरूप में पुनः आने से रोकना पड़ता है। चाहे किसी कारण से मृत मनुष्य की दशा अथवा स्थिति के संबंध में विचार नहीं किया जाता। ब्राह्मण तथा बुद्ध धर्म्मों में दृष्टिगत पुनर्जन्म का विश्वास भी हम को इस दुनिया के पार नहीं लगाता, कारण कि उनके मतानुसार पुनर्जन्म पाने वाला जीवात्मा इस दुनिया में पुनः जीवन धारण करता है।

दूसरे जीवन में अर्थात् मृत्यु के पश्चात् मनुष्यों का अपने देवों के साथ कैसा संबंध होता है, इस विषय में प्रथम प्राचीन मिसर और ईरान का ध्यान आकर्षित हुआ। पीछे बुद्ध के उपदेश में तो नहीं परन्तु बौद्ध धर्म्म के चैतन्यमय और आनन्दमय जीवन को निर्वाण कहने में आया और इस्लाम तथा ईसाई धर्म्मों में दूसरे जीवन को भिन्नभिन्न कल्पित किया गया है और इस संबंध में यह कल्पनाएं महत्व का काम करती हैं।

दुनियां के सब धर्म्मों में प्रथम से ही मनुष्यों का अपने देवताओं के साथ संबंध को समाज के अपने देवताओं के साथ संबंध की तरह मानने में आया है। देवता समाज की रक्षा करते हैं और समाज की सहायता करते हैं और समाज देवताओं को पूजता है। जापानी प्रजा और यहूदी जैसी प्रजाएं जो ऐसा बताती हैं कि यह संबंध प्रतिज्ञापत्र के आधार पर उत्पन्न हुआ है, उन में भी ऐसा विश्वास है कि प्रजा तथा देव अथवा देवताओं के मध्य में जो प्रतिज्ञा हुई है, उस से देवताओं की समाज की अमुक व्यक्ति के साथ स्वतंत्र संबंध नहीं होता। वास्तविक रीति से उस समय यह व्यक्ति का नहीं परन्तु समाज का कार्य्य था अर्थात् धर्म्म प्रजा का था किसी खास मनुष्य का नहीं। इस प्रकार धर्म्म संबंधी समाज से दिया हुआ व्यक्ति को गौण स्थान—जैसा कि राजकीय विषयों

में भी अति तीव्र स्वदेशाभिमान की लागणी से स्थान दिया हुआ देखने में आता है वैसा—याहुदिओं और पीछे के समय के ग्रीक लोगों जैसी छोटी जातिओं में बहुत आसानी से निभ सका, परन्तु बड़ी जातिओं में निभ नहीं सका। बहुत करके इसी कारण के लिए जिन में राजकीय मंडल को पीछे से मिला लिया गया है, ऐसा प्राचीन इजिप्ट के साम्राज्य में अपना अस्तित्व बनाए रखने के उपरांत मनुष्यों को दूसरी बातों पर भी विचार करने का अवसर मिला था और इस से उन्हों ने अपने वर्तमान जीवन को ही नहीं परन्तु भावी जीवन का भी विचार किया था। वर्तमान जीवन को मानते और अपने भावी जीवन के वैभव का आधार वर्तमान जीवन के वर्ताव पर ही है ऐसा मानने पर भी उनको भावी जीवन अच्छा होगा ऐसा निश्चय था। ईरान में द्वंद्ववाद अनुसार पवित्र और दुष्ट तत्वों के विरोध की कल्पना होने पर भी ऐसे प्रकार के शुभाशा की पुष्टि की गई थी कारण कि ईरान के लोग ऐसा मानते थे कि वह अन्त में विजय पाने वाले आरमझद के अनुयायी होने से उनका भावी जीवन सुखरूप होगा और दूसरे सब मनुष्य अहिमान के अनुयायी होने से अन्त में वह जल कर भस्म होनेवाली अग्नि की ज्वालाओं के भोग होगें। समग्र रूप में इस विषय में मुसलमानों का भी मत ऐसा ही है। इस प्रकार के शुभाशावाद में विशेष यह देखने में आता है कि उस में ऊपर निर्दिष्टानुसार वैसे मनुष्य अपने को स्वर्ग सुख प्राप्त होगा

ऐसा निश्चय रखता है और अपने मतानुसार जो नास्तिक हैं उन के भोगने की पीड़ाओं से संतोष मानता है अथवा शान्त रहता है। बौद्ध मत में तो निराशावाद ही विशेष रूप से देखने में आता है। पीड़ा भोगने का स्थान भावी जीवन है ऐसा दूसरे धर्म्मों में मानने में आया है। परन्तु बौद्ध मतानु-सार यह जीवन दुःखमय है और यही नरक है और इस में से पार होना ही निर्वाण है। इच्छाओं को सर्वांश में छोड़ने से ही निर्वाण मिल सकता है ऐसा माना गया है। 'तुम मत करो, ऐसे धर्म्म और नीति के निषेधात्मक स्वरूप की यह परमावधि है और व्यवहारिक रीति पर तो नहीं परन्तु काल्पनिक रीति पर होने वाले निर्दयता पूर्वक यह सिद्धान्त सर्व साधारण के लिए किया गया है।

इच्छाओं के रोकने और निर्मूल करने पर ही बौद्ध धर्म्म का लक्ष्य है। वर्तमान समय में इस्लाम धर्म्म में तथा प्राचीन मिसर और ईरान में तो सदा तृष्णाओं की शान्ति करने का स्थान ही दूसरी दुनिया समझ रखा है। परन्तु जीवन का अन्तिम उद्देश्य इस लोक में अथवा परलोक में इच्छाओं को बिलकुल निर्मूल करने से या परितृप्त करने से सिद्ध होता है ऐसा जो मानते हैं वह इतना तो स्वयमेव ही स्वीकार करेंगे कि मनुष्य की 'इच्छाओं को' लेकर ही धार्मिक विचारों का आरंभ होता है और इन इच्छाओं की योग्य

व्यवस्था करने में ही अंतिम उद्देश्य समाया है। इस उद्देश्य से देवता गौण हो जाते हैं। मुख्य करके आफतों से बचाने अथवा आफतों को रोकने में मनुष्य को सहायता करना उनके धर्म्मों में माना गया है और गौण रूप से मनुष्य को माने हुए कार्य्य में सहायता देने के लिए भी उसका उपयोग है। ईसा के उपदेश में दुनिया का यह क्रम बिलकुल उलटा हो जाता है, और इस प्रकार की दुनिया का मध्यबिंदु मनुष्य मिट कर ईश्वर होता है। मनुष्य की इच्छाओं को लेकर आरंभ नहीं होता उसी तरह से उन इच्छाओं की तृप्ति यह अंतिम उद्देश्य रहता नहीं। मनुष्य की नहीं परन्तु ईश्वर की ही इच्छा परिपूर्ण करने का अन्तिम उद्देश्य रहता है। इस में प्रवृत्ति कराने वाला प्रेम है इस के लिए 'तुम मत करो' ऐसे निषेधात्मक उपदेश के बदले 'तुम अपने पड़ोसी पर तथा ईश्वर पर प्रेम करो' ऐसा विध्यात्मक उपदेश करने में आया है। बौद्धधर्मानुसार ईसा ने इस जीवन को नरक रूप माना नहीं परन्तु इस दुनियां में ईश्वर का साम्राज्य फिर लाने के लिए तथा उसकी इच्छानुसार सब कुछ होना संभव है ऐसा माना है। प्रत्येक मनुष्य के संबंध में ईश्वर की इच्छा परिपूर्ण होती है और प्रेम से सारा कार्य्य सिद्ध होगा ऐसी श्रद्धा ईसाइयों के भावी जीवन से निश्चित रूप में मिलती है। जो न्याय के लिये शोर मचा रहे हैं और जिन को नियमों के भंग होने से होते हुए अपराध

क्षमा करने वाले दयालु प्रभु की ज़रूरत नहीं उनके लिए भावी जीवन यही भावी दंड और पुण्य फल प्राप्त करने का स्थान है ऐसा निरूपण अब भी मालूम होता है। ऐसा होने पर भी मनुष्य और देवताओं के साथ कैसा संबंध है इस प्रश्न का ईसाई धर्म्म में ऐसा निर्णय किया गया है कि उनके बीच प्रेम का ही संबंध है।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से कैसा संबंध है इस प्रश्न का भी ईसाई धर्म्म में यही निर्णय किया है। जब से मनुष्यों ने जंगली दशा में से उन्नति करके समुदाय रूप में एकत्र हो कर रहना आरंभ किया तब से सामाजिक संगठन चलता रहे इस लिए प्रत्येक समाज में मनुष्यों ने एक दूसरे पर विश्वास रखा होगा इसी प्रकार पुरुषों तथा स्त्रियों के प्रति, तथा माता पिता और संतति के प्रति प्रेम बंधन भी होना चाहिए। "विचारों के आरंभ होने पर इस से पूर्व उनके उपदेश आरंभ हों बहुत समय से तत्वों के आचरण में लाए हुए देखने में आते हैं।" इस सिद्धान्तानुसार प्रत्येक समाज के व्यवहार में प्रेम को स्थान मिलना है और मिला हुआ है कारण कि यदि ऐसा न हो तो समाज, ऐसा नाम ही न दिया जा सकता। परन्तु सिर्फ इतना देखने में आता है कि थोड़ी उन्नति प्राप्त की हुई समाजों में प्रेम भी थोड़े अंश में होता है।

नीति का प्रथम दर्शन हमको समाज की रीतियों में होता है । परन्तु आरंभ में रूढ़िद्वारा बहुतसी बातों को माना जाता है और उसको नीति नियमानुसार पीछे निकाल दिया जाता है अथवा तो उसी नियम से फिर निषेध किया जाता है। समाज की रूढ़ि का तथा प्रचलित नीति के टूटने को, आफत में बचाने वा आफत को रोकने के लिए समाज जिन देवताओं का आश्रय लेता उस देवता के अपराध का स्वरूप दिया जाता। इस लिए नीति के विषय में केवल ऐसे अपराध और अतिक्रमण न करना ऐसी देवताओं की इच्छा होती है ऐसा मानने में आता। इसी कारण से धर्म्म और नीति के प्राचीन इतिहास में भय को मुख्य स्थान दिया गया है परन्तु यह भय तो 'ईश्वरीय भय' होने से उसी से 'विवेकबुद्धि का आरंभ' होता है। ऐसा होने पर उस भय में से मुक्त होने का मार्ग ढूंडा जाता और ब्राह्मण धर्म्म में तो इस से आगे बढ़ कर जिस से मनुष्य देवताओं के वश कर सके ऐसी यज्ञ क्रियाओं का मार्ग ढूंड निकाला है। यूनान में देवताओं को मनुष्य प्रकृति का मानने से वहां भय का स्थान रह गया पर ऐसे विश्वास से देवताओं के प्रति पूज्य बुद्धि स्थिर रखने का काम अधिक अधिक मुष्किल होता गया।

द्वितीय प्रकरण.

यज्ञ

दूसरी सब धार्मिक क्रियाओं से यज्ञ क्रिया को प्रत्येक धर्म्म में अधिक महत्व का स्थान दिया जाने से हम प्रथम यज्ञों की उत्पत्ति उन का मूल स्वरूप तथा उन में हुए परिवर्तन तथा उनके भिन्न भिन्न प्रकारों का निरीक्षण करें।

प्राचीन काल से मनुष्यों ने यज्ञ को देवताओं के साथ संबंध रखने, ताज़ा करने तथा निभाने का साधन मान रखा है। उसी प्रकार देवताओं के प्रति संसर्ग रखने का साधनरूप भी यज्ञ को ही गिना गया है।

यद्यपि बौद्ध धर्म्म, इस्लाम धर्म्म और ईसाई धर्म्म में यज्ञों का प्रचार देखने में नहीं आता तथापि धार्मिक इतिहास पर से इतना तो निश्चित जाना जाता है कि प्राचीन धर्म्मों के संशोधन परीवर्तन के रूप में इन धर्म्मों को माना जाता है कि प्राचीन धर्म्मों में यज्ञों का प्रचार था और वहां यज्ञों को महत्व पूर्ण समझा जाता था।

इन यज्ञों से प्रत्येक समाज अपने देवताओं की समीपता प्राप्त कर और उनके संसर्ग में रह सकता, ऐसे यज्ञों को सार्व-

जानिक यज्ञ कहने में आता। तदनन्तर जिन यज्ञों द्वारा समाज की व्यक्तिएं स्वयम् स्वतंत्र रीति से अपने देवताओं की समीपता प्राप्त करके अपने अंगत कार्य्य कर सकते ऐसे स्वकीय यज्ञ प्रचलित हुए। इस प्रकार देव यज्ञ के दो भाग किए गए देखने में आते हैं। लिखित इतिहास रखने वाले धर्म्मों में सार्वजानिक देव यज्ञों का जितना प्रचार देखने में आता है उतना सार्वजानिक पितृयज्ञ का प्रचार देखने में नहीं आने से हम भी यह अनुमान कर सकते हैं कि पितृयज्ञ धर्म्म में पीछे से दाखल हुआ होगा और भिन्नभिन्न पितरों के वंशज अपने पितरों के निमित्त ऐसे यज्ञ कर सकने से तथा दूसरे कुलोत्पन्न मनुष्य इस में भाग न ले सकने से यह यज्ञ स्वकीय यज्ञों के रूप में प्रचलित रहे।

बौद्ध, इस्लाम और ईसाई इन तीन धर्म्मों के सिवाय बाकी के सब धर्म्मों में सामान्य रीति पर देवयज्ञ करने में आते हैं और ऐसे यज्ञ सब समाज इकट्ठा मिल कर करती है अथवा अपने प्रतिनिधि रूप अधिकारी द्वारा कराती है। ऐसे यज्ञों में बहुतायत से समाज अन्न का ही बलिदान देते हैं। परन्तु बहुत कर के पशुओं तथा वनस्पतिओं का बलिदान भी किया जाता है।

जापान के शिन्तो धर्म्म के अनुयायी ऐसे सार्वजनिक देवयज्ञों में बलि के रूप में भाले, ढाल, तीर तथा वस्त्रालंकार

देते हैं। परन्तु ऐसे बलिदान अधिकांश में समाज की व्यक्तिओं की ओर से दिए जाने से उस पर अभी हमारे ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है कारण कि सार्वजानिक देव यज्ञों में समाज की ओर से नियमानुसार किस प्रकार का बलिदान दिया जाता है उसी के संबंध में हमें विचार करना है।

ऊपर बताए हुए अन्न पशु तथा वनस्पतिओं के बलिदान से यज्ञ करने वाले अपनी शक्ति अनुसार बलिदान दे नहीं सकते परन्तु रीति का अनुकरण करके जिस देव को जो वस्तु बलिदान दी जाती है उस देवता को वही बलिदान देना पड़ता है।

आफतें दूर करने के लिये तथा समृद्धि शाली बनने के लिए, किए जाने वाले ऐसे सार्वजनिक देवयज्ञों में देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त केवल बलिदान की ही आवश्यकता हो तो चाहे किसी वस्तु के बलिदान से देवता प्रसन्न होने चाहिएं। परन्तु ऐसा न होने का क्या कारण होगा ऐसा प्रश्न स्वाभाविक रीति से प्रत्येक के मन में उत्पन्न होता होगा यह संभव है। इस प्रश्न का निर्णय करने से पूर्व एक ऐतिहासिक विषय समझने की आवश्यकता है। धार्म्मिक इतिहास में कई बार अपने देखने में आता है कि उस देव को उस पशु अथवा वृक्ष का बलिदान देना निश्चित् किया होता है उस देव को उस पशु अथवा वृक्ष के नाम से पहिचाना जाता है, उदाहरण रूप,

मेक्सिको में जिस देवी को मकइ की बलि दी जाती है उस देवी को मकई माता कहते थे इसी प्रकार प्राचीन ग्रीस में जिस देवी को धान्य की बलि दी जाती थी तथा जिस के प्रतिनिधि घास के पूले माने जाते थे वह धान्य—माता युरोप की दंत कथाओं में सुप्रसिद्ध है। एक एक पूले में धान्य माता का निवास है ऐसा धान्य माता के पूजक मानते थे और इसे किसी भी पूले को धान्य माताके आविर्भाव रूपमें मानकर संभालकर रखते थे। इस प्रकार सुरक्षित रखे हुए पूले को देवता के रूप में तथा देवता को अर्पण करने वाली बली के रूप में भी मानते थे। इसके अतिरिक्त धान्य के आटे की पूरी को तथा पुतलों को वह दोनों प्रकार का मानते थे। मैक्सिको में मकई माता के पूजक बलिरूप में अर्पण की हुई पूरियों को बांट लेते और फिर सब इकट्ठे होकर मकई माता के समक्ष भोजन करते। यह धार्मिक क्रिया भोजनारंभ के रूप में देव के निमित्त करने में आती ऐसा हम को मैक्सिको के जीतने वाले स्पेन के लोगों के आश्चर्य्य भरे वृत्तान्त से मालूम पड़ जाती है।

इस प्रकार मैक्सिको में दिए जाते धान्य बलिदान की समज हम करा सकते हैं परन्तु इसी प्रकार पशु यज्ञों को समझाने के लिए हमें कई कठिनाइयां पड़ती हैं कारण कि इन यज्ञों का प्रचार कृषि कर्म्म और पशु पालन के आरंभ से पूर्व भी

देखने में आने से, पीछे पैदा हुए अन्नमय यज्ञों के अनुसार इनका समझाना ठीक नहीं माना जायगा। सब जगह पशु यज्ञों के साथ बलि भक्षण की तथा भोजन समारंभ की क्रियाएं लगाई जाती हैं और यह क्रियाएं धान्य देवताओं की पूजा शुरु होने से पूर्व समाज में सर्व मान्य हो चुकी होनी चाहियें।

धान्य देवता तथा मकई माताओं की पूजा के अनुसार पशुपूजा में भी पशुजाति की प्रत्येक व्यक्ति में समान रीति से देवताओं का आविर्भाव मानने में आया हुआ होगा ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं। प्राचीन काल में वृष जाति की प्रत्येक व्यक्ति को वृष इस नाम से सबका समावेश होने से उस जाति की प्रत्येक व्यक्ति को वृष–देवता अथवा वत्स देवता मानकर किसी भी व्यक्ति में वृष देवता की पूजा की जाती होगी। फिर जिस प्रकार से धान्य यज्ञों में बलिदान रूप में उत्पन्न हुए पौदों का उपयोग किया जाता था उसी प्रकार पशु यज्ञों में भी पाले हुए पशु बलिदान के उपयोग मे लाएजाने से हमको यह मानने के सबल कारण मिल जाते हैं कि जिन देवताओं को पशुओं की बलि दी जाती है वह आरंभ में पशु देवता ही थे और पूले मकई पूरी आटे के पुतलों की तरह पशुओं को ही बलिदान रूप तथा देवता रूप मानने में आते थे।

इस के अतिरिक्त द्यौः—देवता, सूर्य्य चन्द्र तारा इत्यादि अन्य देवता भी अपने दृष्टिगत होते हैं और वह भी पशु देवता

जितने ही पुराने हैं। इन देवताओं में से बहुतों के बलिदान देने के पदार्थ निश्चित किए गए हैं। अमुक देवताको अमुक पदार्थ की बलि देने का क्या कारण होगा उसकी कल्पना हम सब प्रसंगों पर कर नहीं सकते। इसलिये हमें ऐसे निश्चय पर आना पड़ता है कि इस समय के लोग स्वेच्छानुसार अथवा घुनाक्षर न्याय से अमुक देवता को अमुक पदार्थ की ही बलि चढानी चाहिए ऐसा निश्चय किया होगा।

प्राचीन इतिहास से हमको प्रतीत होता है कि प्रथम देवताओं को सामान्य रीति के खाद्य पदार्थों की बलि दी जाती होगी और इसी के अनुसार धान्य पकता तब धान्य के, पशु पाले जाते तब पशुओं की और इन दोनों के अभाव में दूसरे पदार्थों की बलि उस समय देवताओं को दी जाती थीं।

ऊपर की हकीकत से कृषि कर्म्म और पशुपालन के आरंभ होने से पूर्व अनिश्चित प्रमाण में भक्ष्य पदार्थों की प्राप्ति होने से अपने निर्वाह का परम साधन मान कर प्राचीन काल के मनुष्यों ने उन्हें पवित्र माना होगा तथा उन्हीं को देवता के रूप में मान लिया होगा ऐसा भी हम मान सकते हैं।

हम पूर्व बता चुके हैं उसी के अनुसार प्रत्येक प्रजा को उस पर पड़ने वाली आफतें रोकने के लिए देवताओं की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी और देवताओं को प्रसन्न करने के

लिए बलिदान दिया जाता था; प्रथम तो कोई भी देवता अपने उपासकों को इच्छानुसार देने की शक्ति रखता था ऐसा माना जाता था। परन्तु पीछे से प्रजा में कार्य्य विभाग के प्रवेश होने से लोगों का विश्वास बदल गया और अमुक देव में अमुक वस्तु ही देने की शक्ति है ऐसा मानने में आया। इस पर से हम देख सकते हैं कि लोगों में कार्य विभाग के प्रचलित होने से यह नियम देवताओं को भी लगाए गए होने चाहिएं।

अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए उत्तम से उत्तम पदार्थों का इस देवता को बलिदान देने में मनुष्य प्रेरा जाय यह स्वाभाविक है इस लिए जिस समय में धान्य अत्यंत दुर्लभ होने से सर्वोत्तम बलिदान गिना जाता था उस समय सामान्य बलिदान रूप में मनुष्यों ने पशुओं की बलि चढ़ानी तथा धान्य का नैवेद्य रखना आरंभ किया होगा ऐसा हम मान सकते हैं।

अब तुलनात्मक पद्धति से प्राप्त प्रमाणों से हम यह सामान्य फैसला कर सकते हैं कि आफतें लाने वाली व्यक्ति को चले जाने के लिए की जाती प्रार्थना से, उस की तृप्ति के लिये धान्य के बलिदान दिए जाते होंगे और आफतें दूर होने के बाद उस व्यक्ति के साथ हमारा अच्छा संबंध जुड़ता है ऐसा मानने से पुनः बलिदान देकर उस में से कई अंश सब प्रसाद

रूप लेते हैं। इस प्रकार समाज और देवताओं के साथ अच्छा संबंध पुनः स्थिर हो जाता है, यह बताने के लिए भोजन समारंभ किए जाते हैं और उस के परिणाम में देवता के साथ प्रसाद लेना यह भी एक भारी धर्म्म कार्य्य विधि है ऐसा माना गया है। इसी स्वरूप में जपानी और याहूदी अपने वहां भी भोजन समारंभों को मानते हैं।

परन्तु ऐसा निर्णय सब देवों के संबंध में हो सकता नहीं कारण कि दुनिया के बहुत से ऐतिहासिक धर्म्मों में कई देवताओं को रखा हुआ नैवेद्य का प्रसाद लिया नहीं जा सकता, ऐसा हमे प्रतीत होता है। आफत लानेवाले देवताओं को विसर्जन होने के लिए, लोभ देने के लिए प्राचीन रचित यज्ञ विधि स्थिर होनी चाहिए। आफत डालने वाले देवताओं तथा यमपुरी के उग्र देवों को ही दिए जाने वाले बलिदान सर्वत्र समाज के उपयोग में लाए जाते न थे यह बात सिद्ध होती है।

प्राचीन समय में जब जब समाजपर आफतें आ पड़तीं तब तब उन आफतों को दूर करनेके लिए यज्ञ किए जाते थे। वैसे ही आफतें दूर होनेपर देवताओंका उपकार मानने के लिए भी उन उन देवताओंके यज्ञ पुनः किए जाते थे इस लिए इन यज्ञों को हम अनियमित यज्ञ कहेंगे। इसके उपरांत दूसरे कई

यज्ञ वर्षकी अमुक ही ऋतुमें प्रत्येक वर्ष किए जाते थे। ऐसे यज्ञोंको हम नियमित यज्ञ कहेंगे।

ऐतिहासिक धर्म्मों में नियमित यज्ञोंसे अनियमित यज्ञोंका प्रचार थोड़ा देखनेमें आता है। नियमित यज्ञ प्रति वर्ष वसन्त ऋतुमें तथा प्रत्येक शरद ऋतुमें किए जाते थे। ऐतिहासिक धर्म्मों में यह यज्ञ बीज बोते वक्त मनाए जाने वाले वसंत उत्सव के साथ तथा फसल काटने के समय मनाए जाने वाले शरद ऋतुके उत्सवके साथ मिला दिए गए। धार्म्मिक पंचांगकी उत्पत्ति भी इन यज्ञों में से ही हुई और कुछ समयके बाद जबसे सूर्य्य, चन्द्र ग्रह तथा नक्षत्रोंका पूजना आरंभ हुवा उस समय से शास्त्रीय पंचांग भी बनाए गए।

अब तक हमने ऐसी धार्मिक क्रियाओं पर ध्यान दिया है कि जिनमें देवताओं को अन्नका नैवेद्य और पशुओंका बलिदान देनेमें आया था, परन्तु अब हम आगे चलकर उन धार्मिक क्रियाओंका अवलोकन करेंगे जिनमें मनुष्यकी बलि दी जाती है। ऐतिहासिक धर्म्मों में यह धार्मिक क्रिया विशेष अंशमें नहीं दिखाई पड़ती परन्तु लिखित इतिहास नहीं रखनेवाले धर्म्मोंमें उसका प्रचार विशेष देखने में आता है।

समाज के किसी भी मनुष्यके अपकृत्य से क्रोधित अलौकिक व्यक्ति अथवा शक्ति समाजपर आफत डालती है। इस सिद्धान्तको

प्राचीन कालके मनुष्योंने स्वतः सिद्ध माना था। ऐसा माननेके लिए वह ऐसा अपकृत्य करनेवाले मनुष्य को ढूंडते और योग्य दंड देते थे और समाजपर आ पड़ी आफतके अनुसार वह यह दंड निर्धारित करते। जब समाजपर बड़ी भयंकर आपत्ति आ पड़ती तब ऐसे मनुष्यको वह मृत्यु दंड की सज़ा देते। ऐसे मृत्यु दंड की सज़ा से समाजकी शुद्धि हो सकती है तथा देवता-ओं के साथ समाजका संबंध पुनः होता है ऐसा गाल* लोग मानते थे इस प्रकार प्रथम अपकृत्य करनेवालेको ही मृत्यु दंड की सजा देकर अर्थात् क्रोधित हुए देवताको उसकी बलि चढ़ाकर समाज अपने देवको प्रसन्न करता परन्तु पीछेसे निर-पराधी मनुष्यके बलिदानसे देवताका क्रोध शान्त होता है ऐसा माना जाता और उसके लिए समाज के मनुष्यके बदले लड़ाईमें पकड़े हुए कैदी की बलि चढ़ानेका रिवाज प्रचलित हुआ था। जब ऐसे कैदी नहीं मिल सकते थे तब देवताका भोग होनेके लिए किसी भी मनुष्यको लालच दिया जाता। जब मार्सेल्समें मनुष्य महामारी से पीड़ित हुए थे तब उन्होंने समाजके व्ययसे एक वर्ष तक एक भिखारी को ऐशआराममें रखने की लालचसे देवताका भोग होनेके लिए लालच दिया था और उसके बलिदानसे सर्व समाजकी शुद्धि की।

* गाल अर्थात् फ्रांस निवासी.

इस प्रकार समाज में से आफत दूर करने के लिए दिए जाने वाले मनुष्यके बलिदानका रूप प्राचीन यज्ञ भावना से मिलता हुआ प्रतीत होता है तो भी सबसे पहले ऐसे ही मनुष्य-यज्ञ होते होंगे और दूसरे यज्ञ नहीं यह कल्पना हम कर नहीं सकते।

धर्म्मों की तुलनासे प्रकट होनेवाला मनुष्य यज्ञ की क्रियाओंका सामान्य इतिहास उपर्लिखित प्रकार मिलता है। परन्तु भिन्नभिन्न धर्म्मों में इस क्रिया की जितने अंश में सा ान्यता दीखती उतने ही अंशका हमने ध्यान दिया है। अब हम उसके भिन्नभिन्न अंशोंका अवलोकन करेंगे।

उन्नतिमें आगे बढ़े हुए मेक्सिको में पंद्रहवी शताब्दी तक मनुष्य यज्ञ किया जाता था। वहांके एज़क्स लोगोंने इस क्रियाको कमती न करते हुए अत्यंत ही भयंकर प्रमाण में बढ़ा दिया था। ई. स. १४४५ से आरंभ हुए भारी दुष्कालमें उन्होंने देवताओंको प्रसन्नकरनेके लिए बहुतसे मनुष्य यज्ञ किए थे। इसके अतिरिक्त उनके साम्राज्य की वृद्धि करनेवाले प्रतापी विजय प्राप्त करनेके लिए भी अनेक मनुष्य यज्ञ किएथे। प्रत्येक उत्सवमें प्रत्येक विजय प्रसंगपर प्रत्येक ऋतुकी आरंभ में प्रत्येक राज्याभिषेकके समय में और प्रत्येक देवस्थान देवताओं के अर्पण करते समय वह मनुष्य बलि चढ़ाते और उत्सवकी महत्ताके अनुसार बलिदान की संख्या में वृद्धि करते। यहां

भी मार्सेल्स की तरह बलिदान रूप में चढाए जाने वाले मनुष्य को एक वर्ष तक वह ऐश आराम में रखते और विशेष कर वह ऐसे मनुष्य को जो देवता के भोग बनने वाले होतें हैं उनको देवता के अवतार रूप मानते अर्थात् धान्य के बलिदानों की तरह मनुष्य के बलिदानों को भी वह देवता स्वरूप मानते थे।

एज़क्स लोग शूरवीर थे और वह हमेशा युद्ध में पकड़े हुए कैदियों का देवताओं के लिए भोग देते थे। उसी प्रकार बैबिलोनिया के असीरिया और मिसर के लोग भी वैसा ही करते थे। एज़क्स लोगों में धीमे धीमे धार्म्मिक क्रियाओं की सीमा से अधिक वृद्धि हो गई और उन वृद्धि करने वाले पादरियों का बल पंद्रहवीं शताब्दी में तो विशेष जम गया। वह इतना तक कि इन पर उसी समय जीत पाने वाली स्पेन प्रजा का 'धर्म्मान्वेषण मंडल'[1] की क्रूरता से भी एज़क्स के पादरिओं का अत्याचार अधिक क्रूर माना जाता। वेद धर्म्म अथवा ब्राह्मण धर्म्म में भी इस प्रकार धर्म्मगुरुओं ने यज्ञ क्रिया में असाधारण वृद्धि की है यह हमारे देखने में आता है। इस धर्म्म की क्रियाओं में हुई हुई वृद्धि जो कि हमारी मनोवृत्ति को आघात नहीं पहुंचाती कारण कि उस में मनुष्य वध की बू तक नहीं आती।

---

१ रोमन कैथोलिक पंथ से विरुद्ध मत रखने वालों को सज़ा देनेवाली सभा।

दूसरे धर्म्मों की तरह वेद धर्म्म में भी प्रथम देवताओं को चढ़ाए जाने वाले बलिदानों की क्रिया को यज्ञ नाम दिया गया है। अलौकिक व्यक्तिओं के विसर्जन के लिए उन को उद्देश्य कर के ही 'दक्षिणाग्नि' में होम किया जाता वह 'दक्षिणाग्नि' की क्रिया प्राचीन यज्ञ क्रिया से सर्वांश में मिलती है और उस में यज्ञ विधि का मूल स्वरूप हमारे दृष्टि गोचर होता है। यज्ञों में मुख्य अश्वमेध भी प्राचीन यज्ञ विधिओं के परम अवधि रूप होने पर समाज के रक्षण के लिए किए जाने पर सार्वजनिक यज्ञ के रूप हमें मिलता है।

इस के उपरांत बोने और काटने के समय किए जाने वाले वार्षिक महोत्सव भी हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। मात्र इस देश के लोगों के जीवन, वृष्टि के ही आधीन होने से वर्षाऋतु के प्रारंभ में यहां एक विशेष यज्ञ किया जाता है।

जो प्रकृति के तत्व अथवा शक्तियों द्वारा प्रकृति के देवताओं का आविर्भाव होता है उन तत्वों का देवताओं के साथ अभेद भाव माना हुआ है, इस प्रकार होने से 'अग्नि' शब्द का अर्थ अग्नि भी होता है तथा अग्नि देवता भी। 'इन्द्र' को विद्युत् के रूप में वैसे ही विद्युत् को देवता के रूप मे मानने में आता है और 'द्यौः' शब्द आकाश के अर्थ में भी वर्ता जाता है और आकाश देवता के अर्थ में भी।

मक्सिको में भी इसी प्रकार के विश्वास के लिए ' झीलोनेन ' शब्द मकई डोडे के अर्थ में तथा मकई माता के अर्थ में वर्ता जाता था और पेरू में भी इस के लिए देवता को शर-माता (मकई माता) कहते थे ।

वेद धर्म्म में यथा समय दिए जाने वाले पेय पदार्थों के बलिदानों को अन्न के बलिदानों जितना ही महत्व पूर्ण समझा जाता था । दूसरे धर्म्मों की तरह ऐसे बलिदानों को इस धर्म्म में तुच्छ नहीं गिना । इस प्रकार पेय पदार्थों के बलिदानों को इस धर्म्म में जितना महत्व दिया गया है उतना ही महत्व जरथोस्ती धर्म्म में दिया हुआ देखने में आता है । इस पर से तथा सोम और होम इन शब्दों की व्युत्पत्ति की समता पर से यह सिद्ध हो सकता है कि इन दो प्रजाओं के पूर्वज जब इकट्ठे रहते होंगे तब पेय पदार्थों की बलि को महत्व दिया गया होगा यहां तक हमने वेदधर्म्मों की दूसरे इतनी ही उन्नति किए हुए धर्म्मों के साथ तुलना की है अब हम तुलनात्मक पद्धति से मालूम पड़ने वाले भेदों की ओर ध्यान देंगे ।

इसलिए हमें विशेष यत्न करना पड़े ऐसा नहीं है ब्राह्मण धर्म इस एक ही शब्द में सब भेदों का समावेश हो जाता है । ' ब्रह्मन् ' अर्थात् स्तुति करने वाले ब्राह्मण हैं अर्थात् ब्राह्मण धर्म्म का मध्यबिंदु स्तुति है । ब्राह्मण धर्म्म स्तुति से आरंभ

होता है। स्तुति के लिए ही उसका अस्तित्व है और उसकी समाप्ति भी स्तुति में ही है। वेदों में वर्णित सब देवताओं में ब्रह्म सर्वोपरि माना जाता है और ब्रह्म का अर्थ मात्र ही स्तुति है। यह स्तुति आपत्ति में से बचने के लिए तथा ऐहिक समृद्धि प्राप्त करने के लिए की जाती है। परन्तु धन्यवाद प्रदर्शित करने के लिए स्तुति नहीं की जाती। वेद के शब्द कोष में आभार मानने का शब्द ही मिलता नहीं।

आरंभ में देवताओं के समीप पहुंचने तथा इष्ट वस्तु संपादित करने के साधनरूप इस स्तुति को पीछे साध्य रूप माना गया और इससे तर्पण और यज्ञकी क्रियाएं पूजनीय मानी जाने लगीं। पीछे के समय में जैसा एक ही शब्द का अग्नि और अग्नि देवता अथवा द्यौः और द्यौ—देवता ऐसे दो अर्थ किए गए वैसे ही स्तुति के भी स्तुति तथा स्तुति—देवता अर्थात् ब्रह्म यह दो अर्थ किए गए हैं। इस प्रकार स्तुति रूप धार्मिक क्रिया को ही ब्रह्म के रूप में माना गया है और इस ब्रह्म की पूजा करने वाले ब्राह्मण होते हैं।

इस पर से यह तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि जो ब्राह्मण जाति की अभिवृद्धि के अनुकूल दशा न मिलती तो इस प्रकार की धार्मिक उन्नति भाग्यवशात् ही होती। हिंदुस्थान में बने हुए ज्ञाति निर्माणों के विकास से ऐसे संयोग मिले होने से हम इस पर दृष्टिपात करेंगे। यहां पर सामान्य रीति से

ज्ञाति के लिए वर्ण शब्द वर्ता जाता है। वर्ण अर्थात् रंग। रंग अर्थात् हिंदुस्थान पर चढ़ाई करने वाले आर्य्यों का तथा इन आर्य्यों से जीते हुए भारत के मूल रहवासियों के शरीरों में समाया हुआ रंग भेद। जीती हुई प्रजा शूद्र रूप में मान कर लकड़ी फाड़ने वाले तथा पानी भरनेवालों की दशा में रखे हुए आर्य प्रजा के परस्पर भेद बताने में 'वर्ण' शब्द लिया जाने से फिर इस का उपयोग विजयी प्रजा में भिन्न भिन्न धंधे रोज़-गार करने वाले भेद दर्शाने के लिए बन गया अर्थात् कारीगर वर्ग वैश्यों का और राजसत्ताधारी वर्ग अर्थात् क्षत्रियों का तथा पुरोहित वर्ग ब्राह्मणों का परस्पर भेद भी वर्ण शब्द से ही दर्शित हुए। ऐसी वर्ण व्यवस्था ही ब्राह्मण जाति के उन्नति का कारण हुई।

हम ऊपर जैसे बता चुके हैं वैसे जब पुरोहित वर्ग के प्राबल्य के कारण स्तुति अथवा यज्ञ को साधन रूप नहीं मानने से साध्य वस्तु के रूप में ही माना गया तब देवताओं का महत्व बिलकुल कम हो गया और वह पुरोहित के ही आधीन हो गया। पुरोहितों की देवता के प्रति ऐसी भावना वेद मंत्रों से प्रतीत हो जाती है।

"जिस प्रकार एक शिकारी अपने शिकार के पीछे भागता है उसी प्रकार यज्ञ करने वाला ब्राह्मण इन्द्र के पीछे

पड़ता है। जिस प्रकार पच्छीमार पक्षी को पकड़ता है उसी तरह ब्राह्मण इन्द्र को पकड़ता है। देवता रूपी चक्र को किसः प्रकार से फिराना वह यह ब्राह्मण जानता है।"

पुनः मंत्रों में भी ऐसी कल्पना की गई है कि देवता बलिदान लेने के लिए यज्ञ में प्रत्यक्ष हाज़र होते हैं और भक्ष्य तथा पेय पदार्थों के बलिदान से वह बलिष्ठ होते हैं।

"जैसे बैल वर्षा के लिए विकल होता है वैसे ही इन्द्र सोमरस के लिए तड़फता है"

इन उद्धृत वाक्यों से हम देख सकते हैं कि यज्ञ क्रिया का गौरव ब्राह्मणों ने इतना बढ़ा दिया और यज्ञ क्रिया ही देवताओं की उत्पत्ति का आदि कारण है तथा इन क्रियाओं पर ही उन के अस्तित्वका आधार है ऐसा उन्होंने उपदेश किया है। "यज्ञमें से जगत् की उत्पत्ति हुई है और देवता भी यज्ञ द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं" स्वर्ग से यज्ञ समाप्त हुआ है और स्वर्ग का यज्ञ सब लौकिक यज्ञों का आदर्श रूप माना गया है इस प्रकार ब्राह्मण धर्म्म में यज्ञ को सब का आदि तथा अंत माना गया है। यह यज्ञ ब्राह्मणों से ही कराए जा सकते हैं।

ब्राह्मण धर्म्म की तरह दूसरे किसी धर्म्म में ईश्वर के समक्ष पहुंचने का साधन रूप यज्ञ क्रिया को इतना गौरव नहीं

दिया गया। यह आर्य्यों के समीपस्थ पारसी भी यज्ञ क्रियासे मनुष्यको ईश्वरीय सहायता मिलती है और देवताओंको अर्थात् अहुरमजद और अहिर्मानके विग्रहरूप मानते हैं। और यज्ञ क्रिया से इन सारी शक्तियों को सहायता मिलती है तथा ऐसी मदद से बुरी शक्तियोंको हराने में समर्थ होते हैं ऐसा भी मानते हैं। ऐसे विश्वास के लिए वहां यज्ञ क्रिया साधनरूप ही रहती है।

दुनियां की उत्पत्ति यज्ञ क्रिया में से नहीं हुई परन्तु दुनिया उत्पन्न हुई उस समयसे ही यज्ञ क्रिया का आरंभ हुआ है ऐसा उपदेश असीरिया और बैबिलोनिया के पादरियों ने किया है। रोज़ दिन में दो वार देवताओं को नैवेद्य देने की क्रिया को वह यज्ञ कहते हैं और " देवता इस यज्ञ के आस-पास मक्खियों की तरह संख्या बंध इकट्ठे होते हैं " ऐसा वह मानते हैं।

प्राचीन मिसर की यज्ञ विधि के संबंध में हम को जो थोड़ा बहुत ज्ञान मिल सकता है उस परसे हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि वहां पर यज्ञ क्रिया का अधिक प्रचार नहीं हुआ, वहां तो अपने आत्मा की परलोक में क्या दशा होगी इस विषय में ही सबको विशेष ध्यान रहता था।

अन्य सब धर्मों में जिस विधि से जिन कारणों के लिए तथा जिस जिस समय देवताओं के प्रसन्न करने के लिए यज्ञ

किए जाते थे उसी विधि से उन्हीं कारणों को लेकर उसी उसी समय चीन में भी यज्ञ किए जाते थे परन्तु वहां पितृ पूजा को विशेष गौरव देनेसे यज्ञ क्रिया में विशेष वृद्धि न हो सकी।

अन्य धर्म्मों की तरह याहुदी धर्म्म में भी अपकृत्योंका प्रायश्चित्त कर आफत दूर करने के लिए यज्ञ किए जाते थे तथा कितने ही यज्ञ तो भोजन समारंभ के स्वरूप में भी किए जाते थे। इस में प्रथम देवताओं को नैवेद्य देना पुनः पूजा करने वालों का समाज भोजन करता। दूसरे धर्म्मों में जिन कारणों से यज्ञ क्रियाओं का विस्तार अटका वह कारण यहां नहीं मिलते। चीनीओं की तरह याहूदी पितृ पूजा की ओर आकर्षित नहीं हुए थे उसी प्रकारसे मिसर देशवासिओं की तरह उनका चित्त परलोक की चिंतामें नहीं लगा था तथा असीरिया की तरह उन्होंने जादुगरों का भी आश्रय नहीं लिया था तो भी याहूदियों में यज्ञ क्रिया का प्रचार होना बन्द हो गया। इस लिए जिन कारणों से ऐसी रुकावट हो सकी है वह कारण धार्म्मिक इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्व के माने विना नहीं रहेंगे। ऐसा होने से हम उस पर सविस्तर दृष्टिपात करेंगे।

याहूदी धर्म्म में जो जेरेमियाह और ऐजेकियल सिद्ध पुरुष हो गए हैं उन्होंने अपने उपदेश से इस क्रिया को बढ़ने नहीं दिया। उनके समय तक याहूदी धर्म्म में ऐसा माना

जाता था कि सारा समाज मिलकर ही ईश्वर की पूजा कर सकता है और केवल यज्ञ से ही ईश्वर प्रसन्न हो सकता है। परंपरा से प्रचलित इस भावना को दृढ़ करने के लिए याहूदी धर्म्म के पादरी तत्पर रहते और वह लोगों को समझाते कि याहूदी प्रजा और इसके ईश्वर यहोवाह के संबंध को बनाए रखने तथा ताज़ा करने के साधनरूप यज्ञ अनुष्ठान से ही ईश्वर की कृपा मिल सकती है और ऐसे यज्ञ एक व्यक्ति से नहीं हो सकते परन्तु सब समाज मिलकर कर सकता है। इस भावना के कारण ही याहूदी अपनी प्रजा को ईश्वर की अभीष्ट प्रजा के रूप में मानते और दूसरी प्रजा को ग्राम्य प्रजा मानते थे। जरथुस्ती धर्म्म में भी ऐसा विश्वास हमारे देखने में आता है। इस पर से हम देख सकते हैं कि प्राचीन समय में राजकीय समाजों को ही धार्म्मिक समाज माना जाता था और इसके परिणाम में राजकीय समाज की अवनति के साथ ही धर्म्म की भी अवनति होती। इस प्रकार बैबिलोनिया के साम्राज्य का अन्त होते ही अनेक देव पूजक बैबिलोनियनों का भी अंत आ गया ऐसा देखने में आता है। प्राचीन विश्वास के अनुसार समाजके देवताओं के क्रोधके कारण ही राजकीय समाज की अवनति होने से, समाज की धार्म्मिक क्रियाओं को बनाई रखने पर, समाज और समाज के देवताओं के संबंध को स्थिर रखने वाले धर्म्म गुरुओं का महत्व बढ़ता है और समाज उनके वचनों का पूर्ण विश्वास रखता है।

याहूदियों की प्रथम ऐसी ही स्थिती थी, परन्तु पीछे से जेरेमियाह, अज़ेकिल इत्यादि सिद्ध महात्माओं ने याहूदी पादरियों के उपदेशों के विरुद्ध उपदेश करना आरंभ किया। उन्होंने ऐसा उपदेश किया कि ईश्वर बकरियों तथा भेड़ों के बलिदान से प्रसन्न होता नहीं परन्तु उसकी आज्ञाओं के पालन करने से ही प्रसन्न होता है। और प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र रीति से ईश्वर की पूजा कर सकता है। ऐसा उपदेश करने में कितने अंश में फलीभूत होने से व्यक्ति के स्वतंत्र धर्म्म की जो भावना अब तक अशक्य मानी जाती थी वह शक्य मानी गई और सार्वजनिक यज्ञों की क्रिया का प्रचार रुका। परन्तु इससे विशेष वह कुछ कर न सके। धर्म्मचुस्त याहूदी प्रजा में पशु यज्ञ, सुन्नत और खाने पीने का निषेध तो प्रचलित ही रहा। इस प्रकार दुनिया के सब धर्म्मों से ब्राह्मण धर्म्म और याहूदी धर्म्मों में धर्म्म गुरुओं की प्राबल्यता से फैले हुए यज्ञ क्रिया के विस्तार को रोकने की नवीन प्रवृत्तिएं खड़ी हुई यह देखने में आती हैं। यज्ञ क्रिया को धार्मिक जीवन का साधनरूप न मानने वाली ऐसी प्रवृत्तियों में से दुनियां के दो बड़े ज़बरदस्त बौद्ध और ईसाई धर्म्मों का जन्म होने से उन को हम धार्म्मिकोन्नति करनेवाली प्रवृत्ति मानेंगे। परन्तु इस प्रकार उत्पन्न हुए दोनो धर्म्मों को अन्तमें अपने उत्पात्तिस्थान को छोड़ना पड़ा और वह धर्म्मोपदेशक होकर अपने कार्य्य कर सके हैं। ' धार्म्मिकसमाज को अपने अस्तित्व के लिए एक

राजकीय समाज के रूप में ही रहना चाहिए' ऐसी सर्वमान्य भावनाको इन दो धर्म्मों ने स्वीकार नहीं किया होने से उसका विशेष प्रचार हुआ है और राजकीय समाज पर अपने अस्तित्व का आधार नहीं रखने वाले धर्म्म ही मनुष्य जाति के सामान्य धर्म्म हो सकते हैं इस सत्यको उन्हों ने अपने दृष्टान्त से ही सिद्ध किया है।

बुद्ध धर्म्म समाजका धर्म्म है कि व्यक्ति का है इसका निर्णय उसके वाह्य स्वरूप से नहीं हो सकता इसी तरह इसमें ईश्वर नहीं मानने से उस धर्म्म को एक धर्म्म के रूप में गिनवाया नहीं, इसमें भी मतभेद रहता है।

परन्तु वास्तविक दशाके देखने से इसका निर्णय हो सकता है। बुद्ध धर्म्म व्यक्तियों के लिए ही उत्पन्न हुआ है और व्यक्तियों में ही फैला है इस लिए सामाजिक धर्म्मों में इसकी गणना नहीं हो सकती और इसी कारण के लिए बौद्ध समाज को राजकीय समाज के रूप में माना नहीं जाता। मात्र बौद्ध धर्म्म पालनेवाले माता पिता से जन्मे हुए मनुष्य को बौद्ध धर्म्म में प्रवेश नहीं करते परन्तु उसमें प्रवेश करने के लिए जिस समय से वह बुद्ध के उपदेश को मानने का संकल्प करता है और ऐसा करके वह बुद्ध धर्म्म का आश्रय लेता है उसी समय से उसे बौद्ध गिना जाने लगता है। ऐसी दशा होने से हम को पता लगता है कि बौद्ध धर्म्म में बुद्ध

स्वयं ही ईश्वर के रूप में पूजा जाता है और इस लिए इसको एक धर्म्म के रूप में मानने से कोई हानि नहीं आती।

ब्राह्मण धर्म्म में तथा याहूदी धर्म्म में होनेवाली यज्ञ क्रिया के प्रचार को रोकने के लिए जो नई प्रवृत्तिएं चली हैं उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्र धर्म्म भावना को उत्तेजन दिया है।

यज्ञों के संबंध में इतनी बातें बताकर अब हम इस पर से प्राचीन काल के यज्ञों की भावना कैसी थी उसका निर्णय करें। अपत्तियों से मुक्त होने पर तथा अपने निर्वाहार्थे साधन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को देवता की शरण जाना चाहिए और बलिदान देकर उसे प्रसन्न करना चाहिए ऐसा विश्वास सब धर्म्मों में सामान्य रीति पर देखनेमें आता है। इसी प्रकार सब धर्म्मों में आफतों को दूर करने की तथा लौकिक सुख देने की शक्ति रखने वाले व्यक्ति की देवता के रूप में कल्पना की गई है। और ऐसे देवताओं को बलिदान देने की क्रिया को यज्ञ के रूप में गिना गया है। जापान के शिन्तो धर्म्म में तथा याहूदी धर्म्म में भी ऐसी कल्पनाएं की गई हैं कि समाज और देवता के बीच में की गई प्रतिज्ञा के आधार पर समाज का देवता के प्रति संबंध बना रहने से की हुई प्रतिज्ञानुसार समाज को उसी देवता की प्रजा के रूप में रहना पड़ता है। और देवता को उसी समाज के देव के रूप में रहना पड़ता है और इस प्रतिज्ञा के अनुसार यज्ञादि भी करने पड़ते हैं। ऐसी

प्रतिज्ञा ईश्वर ने अपनी प्रजासे की है ऐसा याहूदी लोग मानते हैं ।

यद्यपि यज्ञ क्रिया में प्रवृत्त मनुष्यों को हम इन क्रियाओं का रहस्य इस प्रकार समझा सकते हैं तो भी इस से सब को पूरा संतोष न होगा इस लिए ऐसा समझ कर अन्य प्रकार से इसका विवेचन करें गे ।

यज्ञ क्रिया में एक ओर समाज होता है और दूसरी तरफ उसका देवता और समाज हाथ में भेट लेकर इस देवता के पास आकर खड़ा रहता है और स्वयम् देवता के आधीन है ऐसा दिखाता है। यह भेट उस देवता को देने वाले बलिदान होते हैं। समाज की राजकीय परिस्थिति के अनुसार उनके देवताओं के ऐश्वर्य की कल्पना की जाती है। तथा इस कल्पना के अनुसार देवताओं की भेटों में भी फेरफार किया जाता है। इस प्रकार जब समाज सामान्य स्थिति में से आगे बढ़कर साम्राज्य की प्राप्ति करता है तब देवताओं के प्रभाव और ऐश्वर्य्य में भी वैसे ही गौरव की कल्पना की जाती और जिस प्रकार सम्राट को उत्तम प्रकार की भेंट दी जाती है वैसी भेंट समाज उस समय अपने देवताओं को देता है। ऐसी भेट अवश्य रखनी चाहिए ऐसी भावना साथ साथ उत्पन्न होती है और इन देवताओं को भेंट देने की क्रिया को यज्ञ रूप की कल्पना की जाती है। इस प्रकार सार्वजनिक यज्ञों का विवेचन किया जा सकता है।

अब हम देवताओं की कल्पना से निजू यज्ञों का क्या असर हुवा उसका विचार करें । हम पूर्व बता चुके हैं कि जहां धर्म्म गुरुओं की प्रबलता अधिक होती है और यह वर्ग जहां व्यवस्थित होता है वहां सामान्य रीतिपर निजू यज्ञों को उत्तेजन नहीं मिलता । परन्तु जब धर्म्म गुरुओं का बल टूट जाता है तब निजू यज्ञ आरंभ होते हैं और ऐसे यज्ञों के आरंभ होते ही व्यक्ति के स्वतंत्र धर्म्म की भावना उदय हुए विना नहीं रहती तथा कई स्थानों पर ऐसा भी होता है कि मनुष्य अपने निजु लाभ के लिये धर्म्म गुरुओं की मारफत यज्ञ कराते हैं परन्तु ऐसी प्रवृत्ति व्याक्ति के स्वतंत्र धर्म्म की भावना को निर्मूल करने का प्रबल कारण रूप हो जाती है । इस प्रकार निजू यज्ञ दो प्रकार के हो सकते हैं और उनसे देवताओं का गौरव घटता जाता है ।

यूनान में ऐसे यज्ञों को मनुष्य की अभिलाषाओं को पूर्ण करने तथा अपना इच्छित कार्य करने का साधन माना गया था । ऐसे यज्ञों से मनुष्य व्याक्ति का तथा देवता का स्वतंत्र संबंध बनता और जिस लाभ के लिए देवता को तय्यार रहना पड़ता । इस प्रकार निजू यज्ञों की उत्पत्ति से देवता मनुष्य कोटि में आगए अर्थात् उनका ऐश्वर्य्य एक राजा अथवा प्रधान व्यवस्थापक की उच्च कोटिसे अधोगति पाता हुआ बाज़ार में माल बेचने वाले व्यापारी की कोटि में आ पड़ता है । यूनान

के मनुष्यों जैसे माने हुए देवताओं की तो इस से भी अधिक अधोगति हुई हम देखते हैं।

इस प्रकार जब तक सब समाज यज्ञ क्रिया मिलकर कर सकता है तब तक तो मनुष्य निजू यज्ञ नहीं कर सकते थे और तब तक देवताओं का गौरव भी बना रहा था। परन्तु जबसे मनुष्य निजू यज्ञ करने लगे तबसे यज्ञ उनकी महत्वाकांक्षाओं को तृप्त करने का नहीं परन्तु उनकी इच्छाओं को तृप्त करने का साधन रूप गिना जाने लगा और इससे देवताओं का गौरव भी घट गया।

तृतीय प्रकरण

जादु.

अपने ऊपर आफतें अथवा दुःख आ पड़ें उनके निवारण के लिए इष्ट देवताओं को प्रार्थना कर के तैयार रहने का कर्तव्य प्रत्येक समाज का है ऐसा सब जगह माना जाता है। जापान तथा याहूदिओं की तरह जहां देवताओं और मनुष्यों के बीच के संबंध को एक प्रतिज्ञारूप मानते हैं वहां प्रतिज्ञा, समाज के किसी भी मनुष्य की नहीं, परन्तु सारे

समाज से किया गया है ऐसा माना जाने से उस प्रतिज्ञा को लेकर देवता समाज की आफतें दूर करने के लिए बंधे हैं परन्तु वह समाज के किसी एक ही मनुष्य पर आफत पड़ने से उसके बचाने के लिये बंधे नहीं हैं ऐसा माना जाता था।

रोग और मृत्यु जैसे एक व्यक्ति पर आ जाते हैं उनसे बचने के लिए मनुष्य को स्वयम् ही प्रयास करना पड़ता है मनुष्यत्व के विकास के पूर्वावस्था में जब ऐसा समझा जाता था कि प्रत्येक विषय किसी व्यक्ति के करने पर ही होता था तब रोग और मरण भी किसी व्यक्ति से ही उत्पन्न होते थे ऐसा माना जाता था इसलिए रोग और मृत्यु लाने वाली शक्ति रखने वाले किसी मनुष्यने द्वेष भाव से ऐसा किया होगा ऐसा मानते थे। ऐसे मनुष्य का खोज निकालने के लिए जो ऐसा दुष्कर्म करता हो उसकी शोध की जाती और ढूंडनेवाले को ऐसे मनुष्य का पता भी लग जाता। ऐसा मनुष्य विचित्र देखाव पुष्ट रीतभात तथा कुदृष्टि पर से पहिचाना जाता और इसके लिए ही वह मनुष्य अद्‌भुत पाप कर्म्म करता होगा ऐसी धारणा उत्पन्न होती ऐसे पुरुष या ऐसी स्त्री में अद्‌भुत शक्ति होगी ऐसा माना जाता अर्थात् वह यदि पुरुष होतो उसे जादुगर तथा यदि स्त्री हो तो उसे चुड़ैल के रूप में मानते। रोग और मृत्यु के मुख में पड़े हुए किसी भी मनुष्य के संबंधी, यह किसने किया होगा इस विषय की शोध करते तब ऐसे मनुष्य पर वहम आता। ऐसे वहमी पुरुष भी हमारे में अद्‌भुत शक्ति है और इस लिए

सब हमारे पास आने से डरते हैं और कांपते हैं ऐसी लोगों की मान्यता होने से एक प्रकार से संतोष मानते। अपने में अद्भुत शक्ति है ऐसा मनाने के लिये भी यह तत्पर रहते हैं और अपने में अद्भुत शक्ति की संभावना करने वाले मनुष्य ठीक हैं ऐसा अन्त में उनको विश्वास होता। इनमें जिस मनुष्य को अपने महान् संकल्प बल का ज्ञान रहता है तथा जो मनुष्य अति आनंद से अथवा जो समाधि दशासे अनुभव कर सकता है उस मनुष्य की लोगों पर अधिक श्रद्धा रहती। इस प्रकार होने से लोगों की इच्छानुसार अमुक शक्ति उस में है ऐसा वह जब स्वयम् माने तब अपने तथा लोगों की धारणा अनुसार अपने अन्दर की शक्ति को अज़माना ही बाकी रहता। केवल उसे अमुक खास चेष्टाओं से मंत्र रूप में अपनी इच्छा मुखसे बतानी पड़ती। उसे इतना ही करना पड़ता कारण कि मनुष्यों का ऐसा विश्वास था की उसने शब्द मात्र का ही उच्चारण किया कि कार्य्य सिद्ध हो जाता। वह जो अमुक को चोट लगाने का बहाना भी करता तो उसे चोट लगती ही और यदि वह बहुत दूर भी होतो भी इस प्रकार होता इसका नाम जादु है। यदि उसे अपनेपर पूरा विश्वास न हो तो स्वयं लगाई हुई चोट दूसरे को लगती है इसका विशेष निश्चय करने के लिये वह रेतीमें मनुष्य का चित्र खींचता अथवा मट्टी या मोम का बुत बनाता और जैसे कि वह बुत या चित्र पर चोट मारता वैसी ही चोट प्रत्यक्ष लगी है ऐसी पीड़ा

उस मनुष्य को होती। ऐसा एक क्रम देखने में आता है और दूसरे अनेक क्रम से अभिचार कर्म्म हो सकता है। यह क्रम बतानेवाले वचनों के अर्थ करने में इतना ध्यान मे रखना चाहिए कि जादुगर स्वयम् जो चोट मारता है उसी चोटकी पीड़ा उसके वशीभूत मनुष्य को होती है। आरंभ में इतन. माने विना जादु माना नहीं जायेगा परन्तु सब जादु को मानते आए हैं और मानते हैं और सबजगह जादु मुख्य करके ऐसा ही होता है और उसके रूपांतर भी बहुत मिलते हैं। इस स्थान पर इसके उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं। इस लिये जादुका धर्म्म के साथ क्या संबंध है इस प्रश्न पर पुनः हम आजावेंगे।

हम सामान्य रीति से कह सकेंगे कि ऐतिहासिक धर्मों में जादु और धर्म्म इन दो में भ्रम होने की संभावना ही नहीं रहती। सामाजिक देव पूजा की संस्था, समाज के मनुष्यों से अपने निजू कार्य्य सिद्ध करने के उपयोग में लाए जाते जादु से बिलकुल भिन्न ही हैं। ऐसा भेद बुद्धिपूर्वक डाला गया परन्तु व्यवहारमें ऐसा भेद दिखाई देता है। जो मनुष्य जादुका उपयोग करता है और जिस पर उसका उपयोग किया जाता है उन दोनों मनुष्यों को इतना ज्ञान होता है। जादु का उपयोग ऐसे कार्य्यों में होता है जैसे कि सहायता करने में जिस में समाज के देवताओं को प्रार्थना न की जासके कारण कि ऐसे कार्य्य सामाजिक हित विरोधि होते हैं और समाज उनको हानिकारक समझता है। जब समाज के किसी

मनुष्य को बीमार करने अथवा मारने के लिए जादु का उपयोग किया जाता है—जैसा कि साधारण रीति पर किया जाता है—तब स्वाभाविक रीति से समाज उसे धिक्कारता है और जादुगर को ढूंड निकाल कर उसे मृत्यु की सज़ा देने के लिए उस कार्य्य में निपुण मनुष्यों को लगाया जाता है इतना तो ठीक है कि सब जादुओं के प्रयोगों का ऐसे 'अभिचार कर्मों' में ही होता नहीं। मनुष्य की अपनी इच्छाएं और अपने कार्य्य सिद्ध करने के लिए जादु का उपयोग किया जाता है यह सब सामाजिक हित के विरुद्ध अथवा समाज को हानिकारक नहीं होते। वशीकरण चूर्ण जिनका अधिकांश में, बल्कि सब जगह उपयोग किया जाता है वह धिक्कार योग्य नहीं माने जाते।

मनुष्य के निजू कामों में इस प्रकार जादु का उपयोग होने से प्राचीन मिसर की जहां भावी जीवन के लिए सामग्री इकट्ठी कर रखने की महत्ता मानी जाती थी वहां मर गए मनुष्य का उसके भावी जीवन में आवश्यक सामग्री को पूर्ण करने के लिए जादु का उपयोग किया जाता यह बात आश्चर्य्यजनक प्रतीत नहीं होगी। प्राचीन मिसर के धर्म्म में ऐसा उपदेश किया गया था कि मृत्यु के पीछे प्रेत का देवताओं की न्याय सभा में इन्साफ किया जाता है। परन्तु इस से विशेष महत्व की बात यह है कि प्रत्येक प्रेत संहिता में (Book of the dead बुक आफ दी डेड) प्रेतको दंड मिलने की संभावना रहती है ऐसा

दर्शानेवाला एक भी शब्द देखने में नहीं आता परंतु प्रेत को निर्दोष करके छोड़ दिया जायगा ऐसे वचन मिलते हैं और उसके छुटकारे के लिए आगेसे ही कार्य्य किए जाते हैं और जादु के मंत्र तथा यंत्र उसे आगेसे ही दे दिए होते हैं। परलोक में उसका कल्याण हो इसलिए उस की दीवालों पर जादु के चित्र खैंचे जाते हैं और इन चित्रों पर इस दुनिया में जो अपने अनुकूल धंधा करके वह गुजारा चलाता था वही धंधा परलोक में भी चलता रहेगा ऐसा विश्वास दिलाया जाता था। इस लिए इस विषय में मिसर में जादु का और धर्म्म अथवा नीति का विरोध नहीं प्रतीत होता। ठीक प्रकार से देखते हुए इस पर से मिसर के रहवासी ऐसा मानने लग पड़े कि उनके परलोक के जीवन के भावी निर्णय इस लोकमें धर्म्म और नीतिका अनुकरण करते हुए अथवा उसके विरुद्ध आचरणों से नहीं होता परन्तु परलोक में इस पर यदि कुछ आ पड़ता है उसका सामना करने के लिए जादु के जिन मंत्रों और यंत्रों से उसे तय्यार किया जाता है उसी से होता है। केवल जहां सामाजिक हितका और जादु का विरोध होता है वहां ही समाज के जिन देवों पर समाज अपने हित का आधार रखता है वह देव जादु से विरुद्ध हैं ऐसा वह समाज मानता है।

प्राचीन मिसर में जादु और धर्म्म का परस्पर विरोध प्रत्यक्ष दीख नहीं पड़ता था। बैबिलोन में मिसर से भी अधिक

धर्म्म की भावना प्रबल होने से जादु और धर्म्मका परस्पर विरोध था और ऐसा प्रगट भी किया गया था तो भी बैबिलोन में जादु का मूल मिसर देश जितना ही गहरा गया था और यद्यपि बैबिलोन में धार्म्मिक भावना का प्राबल्य दीख पड़ता था तो भी यह भावना जादु को निकाल नहीं सकी परन्तु मात्र उसका समाधान करने को ही समर्थ थी, असीरिया की उन्नति के समय तक इस विचारने जादु को निकाल देने के लिए सामर्थ्य नहीं पाया था।

बैबिलोन में जादु और धर्म्म के बीच का समाधान बहुत रोचक है। धर्म्म और देवताओंको दूर रख कर जादु की निवृत्ति प्रतिकाररूपी जादु से कर सकते हैं और जादुगर का असर भूत निकालनेवाले (स्याने) पर नहीं हो सकेगा इस धारणा पर वहां समाधान हुआ है। स्याने का कार्य्य प्रतिकाररूपी जादु ढूंडने का था। बैबिलोनिया में जादु का असर दूर करने के लिए मुख्यतया पानी का उपयोग किया जाता था और पानी जादु के असर वाले मनुष्य को शुद्ध करता तथा जादु के असर को धो डालता इस के अतिरिक्त अग्नि को भी इसी काम में लाते जो अग्नि दूसरी अशुद्धियों तथा मलों की तरह जादु के असर को भी साफ कर देता और जला देता उस आग की बीमार आदमी के बिस्तरे के पास एक अंगीठी रखी जाती और जादु का असर जलकर नाश होता और भड़ाके में जल

जाए इस लिए स्याना धीमे धीमे मंत्र पढ़ कर उस अंगीठी में जुदी जुदी तरह के पदार्थ जलाता। बीमार आदमी को पेटी बांधी जाती और इसका कारण यह था कि जिस प्रकार वह ढीला होता जाए वैसे वैसे जादुगर की बीमारी से मुक्त होता जाता। जादुगर अथवा चुड़ैल के प्रतिनिधि रूप मट्टी के, आटे के मोम के अथवा तो लकड़ी के पुतले बना कर बीमार आदमी के माथे के आगे अथवा पांओं के आगे रखे जाते और फिर उन पुतलों को तोड़ दिया, जला दिया या नदी में फेंक दिया जाता अथवा ऐसे स्थानों में दबा दिया जाता जैसे कि दरवाज़े में, कबरस्तानमें। बेबिलोनिया के जादु की अथवा प्रतिवाद रूपी जादु के इन सब विधिओं में और दूसरे स्थानों के जादु की विधिओं में कोई फरक नहीं दीख पड़ता। बैबिलोनिया में प्रचलित प्रत्येक जादु का प्रयोग दूसरे देशों तथा दूसरे समय के जादुओं से मिलता है। बाण के फल या भाला के पत्तों के आकार का अक्षरों में लिखा हुआ बैबिलोन धर्म्म के धार्म्मिक साहित्य का अन्तिम खंड का बड़ा भाग ऐसे प्रतिकार रूपी जादु के प्रयोगों से भरपूर है।

इन प्रयोगों में तथा अन्य सर्व सामान्य जादु के प्रयोगों में इतना फेर है कि इन प्रयोगों का उपयोग करते हुए अमुक अमुक मंत्र पढ़ने पड़ते हैं और ऐसा करने से मंत्र में निर्दिष्ट देवता की शक्ति से इन प्रयोगों को पुष्टि मिलती है। इस से स्पष्ट

प्रतीत होता है कि धार्म्मिक प्रगोगों से भिन्न प्रयोग भी प्रचलित व्यवहार में उपयोग किए जाते होंगे और जब इन्हें धार्म्मिक प्रयोगों में लाया गया होगा तब समाज के धर्म्म से वह संमत हैं और यह धर्म्म उनको स्वीकृत है ऐसी प्रस्तावना बना कर ही युक्तिपूर्वक उन प्रयोगों का मिश्रण किया गया होगा ऐसी सम्मति और स्वीकृति केवल बाह्य नहीं थी। वास्तव में इनका अर्थ इतना ही है कि प्रतिकार रूपी जादु समाज का रक्षण करने में काम में लाया जाने से समाज के हित के लिए हानिकारक जादु से उसे अलग ही प्रकार का गिना जाता, इस प्रकार प्रतिकार रूपी जादु के उपयोग से जो समाज के सुख के लिए किया जाता, समाज की रक्षा करने वाले देवता भी उसे स्वीकार कर सकते। तो भी ऐसे जादु के प्रयोगों से देवताओं की ओर से बल मिलता ऐसी धार्म्मिक भावना करनी ही पड़ती। इसी कारण के लिए उन प्रयोगों के मंत्र बनाए गए हैं। आघात और प्रत्याघात बराबर हिस्से में ही होते हैं। जब इस प्रतिकार रूपी जादु को इस प्रकार नीति के ऊंचे आसन पर लाए तब उतने ही प्रमाण में धर्म्म ढीला पड़ता है। प्रतिकार रूपी जादु के संबंध के लिये देवता भी जादुगरों की श्रेणी में आ गए। धार्म्मिक प्रस्ता-वनाओं के संबंध भी दृष्य मात्र के लिए नहीं रह सके बल्कि रहे ही नहीं और परिणाम ऐसा आया कि जादु को निष्फल करना यही बैबिलोनिया के मुख्य देव **मेरोडाक** का महत्व

पूर्ण कर्तव्य माना गया। इतना ही केवल मेरोडाक के संबंध में न हुआ। प्रतिकार रूपी जादु को जैसा मेरोडाक की तरफ से बल मिला वैसा मेरोडाक को सर्वज्ञ और गुप्त बातों का अधीश्वर उसके पिता इया की ओर से बल मिलता। इस प्रकार इया निवारक जादुगरों का मुखिया गिना गया। उस से कुछ छुप नहीं सकता और जो पड़दे के पीछे जादुगर अपने आधीन हुए हुए मुख से गुप्त रख सकता है, उस पड़दे को तोड़ देने को इया शक्तिमान् है ऐसा भी माना गया है। जैसे मेरोडाक प्रातःकाल के सूर्य्य रूप समुद्र में से उदय होता है और दुष्ट जादु के असर को धो डाले ऐसा प्रवित्र जल लाता है वैसे अग्नि देव गिरू भी अपनी पवित्र ज्वालाओं में जादु के असर को जला कर भस्म कर देता है। इस लिए मेरोडाक जैसे इया को प्रार्थना करता है वैसे गिरू भी जादु को निष्फल करने के लिए शक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना करता है ऐसा मंत्रों में उनका वर्णन किया है।

अब तक बैबिलोनिया में जिन साधनों से जादुगरों के अभिचार कर्म्म करने वालों की तथा चुड़ैलों को हराया जाता था उसके संबंध में ही विचार किया गया है। परन्तु इनके जादु के अतिरिक्त दूसरे जादु को भी बैबिलोनिया निवासी मानते थे और उस से भी अपना बचाव करना आवश्यक है ऐसा उनका ख्याल था। जादु को निष्फल करने के लिए उपयोग में लाया जाने वाला प्रतिकार जादु के मंत्रों में सात

राक्षसों के नाम वहुत दफा आते हैं। सब बीमारी और आफतों की साक्षात् मूर्ति स्वरूप उनको गिना गया है। मनुष्य पर पड़ने वाली सब प्रकार की आफतों के वह मूल कारण हैं और वे ही संहारक शक्तिएं हैं। वही उत्पात की भी शक्तिएं हैं और मनुष्य तथा पशुओं पर आ पड़ती हैं। वे नाक की प्रजा हैं। वे न हीं पुरुष और नहीं स्त्री हैं। यहां पर वह ऊजड़ प्रदेशों में वास करते हैं। वे अपने साथ ग्रहण बाढ़ रोग तथा मृत्यु लाते हैं। वह आंधी में उत्पन्न होने वाले चार प्रकार की पवनों के पंखों पर सवार होते हैं।

इन सात भूतों के स्वरूप को यथार्थ में समझने के लिए यदि हम तुलनात्मक पद्धति का उपयोग करेंगे तो मालूम होगा कि वह दुनिया के सब धर्म्मों में पाए जाने वाले आंधी के सात देवता हैं। टयूटन लोगों के पुराणों में और जापान के शिन्तो धर्म्म में वे देखने में आते हैं। साधारण रीति पर अनेक देववाद के देवताओं में उनको स्थान मिला होता है। चीन में वे थीनशेन के रूप में पूजे जाते हैं। जापान के शिन्तो धर्म्म में ऐसा माना जाता है कि वहां के सम्राट को स्वप्न आने से समाज के देव रूप में उनको मान लिया जाता है। वेद में, आंधी के देवता मरुतों को इन्द्र की सहायता करने वाले तोफानी देवताओं की फौज के रूप में वर्णन किया है। ग्रीक लोगों में बोरिआस और टयूटनों का वालकीरीज़ भी देव के रूप में पूजे जाने वाले आंधी देवता हैं। जब इस प्रकार

दूसरे सब आंधी अप देवताओं को देवता मान कर पूजा जाता है तब बैबिलोनिया में उनको राक्षस रूप में क्यों माना जाने लगा होगा ऐसा प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है। यदि ऐसा दूसरी किसी जगह न हुआ हो तो इसका निर्णय करने का काम हम को अति कठिन हो जाए। परन्तु जब हम प्राचीन ईरान के धर्म्मों को शोधेंगे और जरथुस्त्र के किए हुए धार्म्मिक परिवर्तन पर विचार करेंगे तो हमें प्रतीत होगा कि पुराने धर्म्म के देवताओं को राक्षस रूप मान कर गिरा दिया गया है। यह बात धर्म्मों के इतिहास में अपरिचित नहीं होती। पारसिओं तथा हिंदुस्थान के आर्य्यों के पूर्वज जिन देवों को प्रथम देवताओं के रूप में मानते थे वह देवता जरथुस्त्र के धर्म्मोपदेश में राक्षस माने गए इस लिए तुलनात्मक पद्धति के अनुसार ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि देवताओं की जो दशा ईरान में हुई है वैसी ही दशा आंधी के देवताओं की बैबिलोनिया में भी हुई होगी। बैबिलोनिया के सामाजिक धर्म्म में देवताओं के रूप में पूजे जाने वाले विश्व देवताओं के समूह में आंधी के अप देवताओं को स्थान नहीं मिला था परन्तु उनको रोग और मृत्यु लाने वाले राक्षस मान कर उन में से निकाल दिए गए थे। उनके लाए हुए रोग और मृत्यु से बचने के लिए जादुगरों के सामने जो प्रयोग किए जाते थे उन्हीं प्रयोगों का उपयोग किया जाता। जादुगरों अथवा राक्षसों के लाए हुए रोग और मृत्यु के मुकाबले में प्रतिकार जादु के प्रयोगों का ही

उपयोग किया जाता और सामाजिक देवता जिन्हें विश्व देवता गण में इन राक्षसों को दाखल नहीं होने दिया था उनका खास कर्त्तव्य यह था कि वह राक्षसों की दुष्टता के विरुद्ध उद्योग करें, इस प्रकार सामाजिक धर्म्म में जो प्रतिकार जादु से लोग रोग और मृत्यु रोक सकते तो उसको दाखल करने का यह एक दूसरा कारण होता और इस तरह प्रतिकार जादु को धर्म्म में दाखल करने से परिणाम यह आया कि प्रथम जिस जादु को हमेशा मनुष्य के कार्य्य रूप माना जाता था वह अब राक्षसों तथा चुड़ैलों के जादु के समक्ष प्रतिकार जादु सफल गिना जाता था; तब सात राक्षसों के जादु के बल के सामने होना, प्रतिकार जादु के उपरांत उसके साथ मंत्रों के देवताओं के बल लगाने की जरूरत रहती थी ।

यद्यपि कुछ काल तक बेबिलोनिया की धार्म्मिक भावनाने अपने प्रदेश में दाखल हुए हुए जादु के प्रयोगों को सहन किया तो भी अन्त को असीरिया की उन्नति के समय में उसका प्रत्याघात हुआ । रोग और विपात्तिएं लाने वाले राक्षस, सात राक्षस जैसे होते हैं अथवा तो उनको लाने वाला एक ही दुष्ट व्यक्ति होता है और प्राचीन ईरान के द्वंद्ववाद के अहिर्मान की तरह वह रोग और विपात्तिएं लाते हैं । किसी एक देवता के अपराध होने से ही ऐसी विपात्तिएं आती हैं ऐसा भी परिणाम निकल सकता है । समाज और उसके देवताओं के संबंध की

प्राचीन कल्पना में उसका समावेश होता है। समाज के मनुष्य की ओरसे किए गए समाज के देवता के अपराध के परिणाम में समाज पर आफत आ पड़ती है। ऐसा विवेचन हम कर ही चुके हैं। असीरिया के प्रायश्चित्त के स्तोत्र में मनुष्य का तथा देवता के इस प्रकार के संबंध का पुनः प्रतिपादन किया गया है। इन स्तोत्रों में ऐसा माना गया है कि अपराधी मनुष्य के रक्षक देवता की प्रार्थना करनी चाहिए और उस के सामने पश्चात्ताप करना चाहिए। प्रतिकार जादु के प्रयोगों से जादुगर अथवा राक्षस को निष्फल करने की प्रवृत्ति करनी यह बताया नहीं। परन्तु यहां मनुष्यों के उनके देवताओं के साथ के संबंध की प्राचीन भावना में महत्व पूर्ण परिवर्तन हुए अथवा तो उनमें भारी विकास देखने में आता है। प्राचीन भावना के अनुसार समाज के देवता का अपराध होना चाहिए ऐसा समाज पर पड़ी हुई आफत से मालूम पड़ जाता परन्तु असीरिया के प्रायश्चित्त के स्तोत्रों में पश्चात्ताप करने वाले की ऐसी भावना बताई है कि उसके अपने अपराध से वह आफत में आ फंसा है और समाज के देवता जो समाज के सिवाय अन्य किसी की परवाह नहीं करते, समाज का ही हित संरक्षण करते हैं उनकी शरण में न जाते वह अपने रक्षक अमुक देवता की शरण में जाते हैं।

चतुर्थ प्रकरण

पितृ पूजा

शरीर के नाश हुए बाद भी जीवात्मा रहता है ऐसी कल्पना दुनिया के सब ऐतिहासिक धर्म्मों में की गई है। तर्क शास्त्रानुसार अनुमान करने से अथवा जीवात्मा की अखंड दशा को साक्षात्कार करके ऐसी कल्पना की गई होगी।

जो जीवात्मा व्यवहार में प्रवृत्त होता है और कार्य्य करता है उसे जीवित मनुष्य का सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग देह के रूप में तथा मृत मनुष्य को भूत के रूप में माना जाता है और वह स्वप्न में दीखता है। इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का जीवन स्थित रहता है इस के मानने से पूर्व, परलोक को माना गया है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को प्रथम अपना ज्ञान नहीं होने से, अपने ज्ञान के विषय का ही ज्ञान होता है और इस प्रकार प्रत्येक बालक के इतिहास में देखा जाता है। बालक प्रथम मनुष्यों का विचार अथवा बुद्धि के विषय रूप समझता है। ठीक रीति से अपने संबंध में भी बालक को अहंवृत्ति पूर्वक अपने स्वतः का ज्ञान नहीं होता और वह अपने आप को अपने से भिन्न विषय के रूप में समझता है। 'मैं ऐसा करता हूं वह वैसा करता है' ऐसे

शब्दों के व्यवहार से बालक को कितना समय चाहिए और अपने बाह्य स्वरूप देह इंद्रिय इत्यादि के उपरान्त 'मैं' शब्द से जो ज्ञान होता है वह वस्तु भी है ऐसा समझने के लिए भी कितना समय लगता है ।

ऊपर बताया है वैसे मृत्यु के पीछे परलोक की गति होती है ऐसा सब से पहले माना जाता है । अर्थात् व्यक्ति के ज्ञान के विषय रूप जीवित मनुष्य के सूक्ष्म स्वरूप का और मृत मनुष्य के भूत का जीवन कायम रहता है ऐसा पहले मान लिया जाता है । और इस पर वादविवाद किया जाता है । दूसरे मनुष्यों के बाह्य स्वरूप में शरीर का ग्रहण शीघ्र होने से वह अधिक महत्व रखता है और वह इतना अधिक कि प्राचीन मिसर में मृत्यु के बाद के आत्मा को जीवन का अधिकार मनुष्य के मृत शरीर के संरक्षण पर रहता है ऐसी कल्पना की जाती थी । इसाई धर्म्म में देह का पुनर्जीवन भी मृत्यु पश्चात् जीवन की एक प्रकार की अवस्था है । इस दृष्टि से देखने से जिस प्रकार रेखा को रेखा समझने के लिए दो प्रकार के सिरे होने आवश्यक हैं और इन दो सिरों के मिलाप से जैसे रेखा बनती है इसी प्रकार व्यक्ति का आन्तरिक स्वरूप और बाह्य स्वरूप यह दोनों केवळ अखंड जुड़े हुए माने गए हैं । इतना ही नहीं परंच दूसरे मनुष्य का जो बाह्य स्वरूप हम को शीघ्र ही प्रत्यक्ष होता है उसके भी शरीर के साथ ऐक्य गिना जाता है । दूसरे मनुष्यों के शरीर को ही

एकदम आत्मारूप मानकर वह ऐसा मानते हैं और ऐसा मानने वालों के संबंध में रेखा के दो सिरे नहीं होते परन्तु एक ही होता है।

दूसरे बहुत से ऐतिहासिक धर्म्मों में जीते रहे मनुष्यों का—मृत्यु के बाद भावी क्या होगा—यह प्रश्न बहुत ही थोड़े काम का और नीरस प्रतीत होता था परन्तु मृत मनुष्य भूत होकर जीवित मनुष्यों को आकर तंग करें ऐसी संभावना रहती है उस का क्या करना? इस प्रश्नने उन का ध्यान विशेष अंश में खैंचा था। व्यवहारिक प्रश्न ऐसा था कि भूत जाता रहे और सदा के लिए दूर रहे तो अच्छा और उसे किस तरह से ललचाना चाहिए! सामान्य रीति से मृत्यु के बाद की क्रियाएं और विधिएं सदा आरंभ से ही भूत को दूर रखने के लिए ही घड़ी गई होंगी और प्रचलित की गई होंगी। मृत मनुष्य यह लोक छोड़ जाते हैं, वह चले गए हैं वह मात्र क्वचित् भूत के रूप में पुनः आते हैं और वह भी तब जब उन्हें दबाया नहीं जाता था या विधि पूर्वक दबाए नहीं जाते थे। जब एक वार मृत्यु उपरान्त कीजानेवाली क्रियाएं प्रचलित हो जाती हैं तब जो मर गया हुआ मनुष्य स्वप्न में अथवा भूत रूप में दिखाई देता है तो उस के संबंध में ऐसा निर्णय किया जाता है कि उस के शरीर की यथार्थ रीति से व्यवस्था नहीं की गई हो उस का यह परिणाम है और इस प्रकार प्राचीन समय के मनुष्योंने मृत मनुष्य के लौट आने का ऐसा कारण ढूंड

निकाला है कि उस के मरने के बाद बारबार आवश्यक क्रियाएं नहीं की गई ऐसा मान कर मृत मनुष्य को गुस्सा आता है और इसी लिए वह लौट कर आता है।

अब भी कितने मनुष्य भूत को और मृत मनुष्यों के पुनरागमन को मानते हैं और कई नहीं मानते। इसी प्रकार संसार के कितने ऐतिहासिक धर्म्मों में ऐसी कल्पना देखी जाती है और बैबिलोनिया, असीरिया और याहूदिओं जैसे कई धर्म्मों में तो निश्चय पूर्वक ऐसा उपदेश किया गया है कि मृत मनुष्य परलोक से लौटते नहीं अलबत जिन धर्म्मों में ऐसा माना हो कि जीवात्मा एक देह से दूसरे देह में जाते हैं वहां वह भूतरूप में प्रकट नहीं होते ऐसा मानना योग्य है।

जिन धर्म्मों में ऐसा उपदेश किया है कि परलोक के प्रवासियों का पुनरागमन नहीं होता उनको पितृपूजा का अवकाश ही नहीं रहता; और जहां पितृपूजा देखी जाती है वह पितृपूजा के आरंभ होने से पूर्व भावी जीवन की अवस्थाओं का निर्णय किया जाता है। इस संसार के व्यवहार में मर गए मनुष्यों का भूतादिरूपमें होने की प्रवृत्ति पर ही जीवित मनुष्यों का ध्यान आकर्षित होता है। आधुनिक चीनीओं की तरह प्राचीन रोम और यूनाने वाने मृत मनुष्यों की कैसी दशा होगी अथवा तो उनको रहने का स्थान कैसा मिलेगा— इस विषय से पूर्व—मृत मनुष्य उन्हें क्या करेंगे इस विषय पर अधिक ध्यान दिया है।

मृत मनुष्य को आवश्यकता पड़े उतनी सामग्री उस के मुड़दे के साथ कबर में रखने का रिवाज इन तीनों देशों में प्रचलित था और मृत मनुष्य का पुनरागमन न हो इस लिए ऐसा किया जाता था। वह चला जाए और सर्वदा के लिए दूर रहे ऐसी इच्छा की जाती थी। इस उद्देश्य को फलीभूत करने के लिए एक दूसरा रिवाज कई जंगली प्रजाओं में देखने में आता है और वह कुछ अंश में चीन में भी देखने में आता है। मुड़दे को दबाने की क्रियासे भी यह रिवाज प्राचीन हो ऐसा प्रतीत होता है।

जंगली प्रजाओं में केवल मृत मनुष्य का घर तथा उस की खुद की सब जायदाद छोड़ कर चले जाने का रिवाज था। चीन में भी अब जिस घर में मृत्यु होती है उस घर को छोड़ जाने का लोगों में रिवाज है। प्राचीन काल में तो उस घर को वास्तव में थोड़े समय के लिए छोड़ कर चले जाते और प्रथम कभी ऐसा भी होगा कि उस घर को हमेशा के लिए छोड़ कर चले जाते होंगे।

मृत मनुष्यों के घर को तथा उसकी मल्कियत को त्याग दिया जाता होगा कि उस के साथ दबा दिया या जला दिया जाता होगा, तो भी उस का उद्देश्य केवल इतना ही था कि मृत मनुष्य को लौटने के लिए कोई बहाना न मिले। इस प्रकार छोडी हुई वस्तुएं, मृत को दी गई बलि के रूप में

स्वाभाविक रूप में मानी जाने लगीं, ऐसे बलिदान प्रथम वार अग्निसंस्कार अथवा पृथिवी भूसंस्कार करते समय दिए जाते और मृत मनुष्य दूर ही रहेगा ऐसा निश्चय होने पर थोड़े समय के बाद बारबार दिए जाने लगे। चीन में एप्रिल महिने तथा मकर संक्रांति पर कबरिस्तान में जाकर बलि देने का रिवाज है, ऐसी ही क्रिया रोम में फेब्रुअरी और दिसम्बर में की जाती हैं। ग्रीस के वार्षिक बलिदान फेब्रुअरी में किए जाते हैं।

अब तक बलिदान देने का कारण सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि भूतों को चले जाने और सदैव के लिए दूर रखने के लिए ललचाया जाए और हम प्रथम बता चुके हैं उसी के अनुसार बहुत करके जो शक्तिएं समाज पर आफत लाती हैं, ऐसा माना जाता है, और जिनको अन्त में देवता के रूप में मानते उन्हें बहुत करके इसी कारण के लिए बलिदान दिया जाता होगा और उन्हीं के लिए यज्ञ कराते होंगे। इस प्रकार देवताओं और पूर्वजों के भूतों के बीच में सामान्यता देखने में आती है तो भी उन में बहुत महत्व पूर्ण भेद देखे जाते हैं। देवताओं की ओर से आफत आएगी ऐसा भय समाज को नहीं रहता और इस लिए योग्य कार्य्य करने का समय भी समाज का ही था परन्तु पूर्वजोंकी ओर से आफत आने का भय केवल मृत मनुष्यों के कुटुम्बियों को ही होता और इस लिए योग्य तजवीज करने काम भी उन्हीं को होता। इस भेद

के लिए शुरु से आखिर तक पितृपूजा देवपूजा से अलग होती है। समाज को ही देवपूजा करने का ही अधिकार है वैसे ही उसका धर्म्म था और इस क्रिया में सारा समाज ही भाग ले सकता तथाच ऐसी पूजा से लाभ भी सब समाज को ही होता और मृत मनुष्यों के सम्बंधी कुटुम्बियों को पितृपूजा करने का अधिकार था और वह उन्हीं का कर्तव्य है वही पितृपूजा कर सकते और उस का लाभ भी उनको मिलता।

यह बहुत ही महत्व पूर्ण भेद हम ध्यान में रखेंगे तो ही दुनियां के सब धर्म्मों में से केवल चीन के ही धर्म्म में पितृपूजा प्रचलित क्यों रही यह बात समझ सकेंगे। दूसरे सब मुख्य धार्म्मिक संप्रदायों में देवपूजा ने जल्दी या देर से पितृपूजा को बंद कर दिया। इसका कारण इतना ही है कि देवपूजा में समाज के मनुष्यों का बराबर हित समाया होता हैं और पितृपूजा में अमुक ही कुटुम्ब के हितका समावेश होता है। जब एक समय दैवी शक्तियों की प्रार्थना अपनी आपात्तिएं दूर करने के उपरांत प्रत्यक्ष सुख प्राप्त करने का रिवाज समाज में दाखल हो जाता है तब समाज अपने देवताओं के पास से सुख समृद्धि प्राप्त करने की आशा रखता है। अमुक कुटुम्ब अपने पूर्वजों से भी समृद्धि पाने की आशा रखता है परन्तु जब तक समाज स्वयम् ऐसे रिवाज को स्वीकार नहीं करता तब तक बहुत अंश तक ऐसा नहीं हो सकता।

ऐतिहासिक धर्म्मों में ऐसा माना गया है कि मात्र देवता ही इस प्रकार लौकिक सुख समृद्धि देने की शक्ति रखते हैं। ग्रीस में पितृ पूजा का जल्दी अंत हो गया और रोम में भी तो केवल निजू पूजा के रूप में प्रचलित रही, परन्तु चीन में तो इतने महत्व की हो गई है कि धर्म्मों के इतिहास में उसे अद्वितीय मानना पड़ता है।

तो भी चीन में देव पूजा की अपेक्षा पितृ पूजा का महत्व अधिक है ऐसा ख्याल न करना। चीन में देवताओं के हजारों मंदिर हैं और उनकी लाखों प्रतिमाएं देखने में आती हैं देवताओं के मंदिर चीनीओं के धार्म्मिक जीवन का केन्द्र-स्थान है। जिन देवताओं को अधिक माना जाता है उन मंदिरों में असंख्य पुरुष तथा स्त्री हमेशा जाते हैं और अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं तथा उनके लाभ मिलने पर अमुक यज्ञ करने तथा बलि देना भी मानते हैं। दूसरे धर्म्मों की तरह चीन में भी मेघ, पवन, वृष्टि, मेघ गर्जन इत्यादि के देवता हैं। वहां वनस्पति देवताओं के यज्ञ किए जाते हैं और इसी प्रकार प्रति वर्ष वृष्टि के लिये तथा पाक के लिए भी यज्ञ किए जाते हैं। अन्य धर्म्मों के अनुसार चीन के धर्म्मों में स्वर्ग पृथिवी सूर्य्य, चंद्र तारागण नदी और अग्नि इनकी पूजा की जाती है और देवताओं को मनुष्य के जैसा गुण धर्म्म-वाला समझा जाता है। उनके मंदिरों में उनकी प्रतिमाएं भी मनुष्यों जैसी देखने में आती हैं।

इन सब बातों में भी चीन का धर्म्म दूसरे ऐतिहासिक धर्म्मों से इतना मिलता है कि इस पर से हम सहज में अनुमान कर सकते हैं कि असीरिया और बैबिलोनिया कि जहां पितृ पूजा कभी भी उन्नति को प्राप्त नहीं हुई थी वहां जैसे देव पूजा का पितृ पूजा के साथ कुछ संबंध न था उसी प्रकार चीन में भी प्रथम देव पूजा का पितृ पूजा के साथ कोई संबंध न होगा। केवल चीन में यह ध्यान देने योग्य है कि जहां पितृ पूजा देव-पूजा के जितनी ही बढ़ गई है और उसके जितनी ही महत्वपूर्ण हो गई है। जिस कारण से ऐसा परिणाम आया है वह यह है कि पितृ पूजा के साथ संबंध न रखने वाले ऐसे कई कारणों के लिए देवपूजा कम हो गई। अन्य धर्म्मों की तरह चीन में समाज की ओर से देवताओं के यज्ञ हुआ करते थे और अब भी समाज की ओर से सम्राट द्यौः देवता का यज्ञ करता है अथवा चीन के प्रजा तंत्र राज्य की स्थापना होने से पूर्व करता था। परन्तु जैसे दूसरी जगह में हुआ है वैसे ही चीन में भी मनुष्य अपने निजू लाभ के लिए स्वतंत्र यज्ञ करने लगे और इस से देव पूजा का गौरव कम हो गया और वह पितृ पूजा के बराबर हो गई।

ऐसा होने पर भी देव और पितरों के बल और ऐश्वर्य्य में तो भेद रहा ही है और चीन के धर्म्म में वह प्रत्यक्ष देखने में आता है। सूर्य्य चन्द्र और दूसरे सब देवताओं और इसके अतिरिक्त सम्राट के पितरों से भी बढ़ कर द्यौः देवता

को धर्म्माधिकार में विशेष महत्व का स्थान दिया हुआ है। अर्थात् सम्राट के पितरों को भी प्रधान देवता के रूप में माना नहीं गया है पितृ पूजा का महत्व बढ़ाने के लिये कई प्रकार की युक्तिएं की गई हैं। सूर्य्य चन्द्र जो खुद आरंभ से ही देवता के रूप माने गए थे उनकी सम्राट के पितरों की पूजा को प्राचीन सूर्य्य चन्द्र की पूजा के साथ मिला दिया गया है और धर्म्माधिकार में सम्राट को द्यौः देवता के पुत्र रूप में स्थान दिया गया है तथा दूसरे प्रकार से भी देव पूजा तथा पितृ पूजा का मिश्रण किया गया है। दूसरे स्थानों में वर्षा ऋतु के आरंभ में वृष्टि देवता का यज्ञ किया जाता है परन्तु चीन में तो इस प्रसंग पर वृष्टि और मेघ गर्जन के राक्षसों के, वैसे ही सम्राट के पितरों के यज्ञ किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनावृष्टि अकाल इत्यादि आफतें वृष्टि देवता के क्रोध से आ पड़ती हैं ऐसा न मानते जिन की दहन क्रिया बराबर नहीं की जाती उनके प्रेतों के गुस्से से ऐसी आफतें आती हैं ऐसा माना जाता है। इसी प्रकार नई धान्य की बलियों के विधि से खेती के देवताओं की पूजा के अंग के रूप न मान कर उसे पितृ पूजा के अंग के रूप में मानते हैं। अन्य धर्म्मों में तथाच चीनमें भी पशुओं की बलि देवताओं को चढ़ाई जाती है। देवताओं को देने के बाद पूजा की नैवेद्य का प्रसाद लेते हैं और ऐसा करने से अपने देवताओं के संबंध को पुनः ताजा करते हैं। चीन में सम्राट के पितरों की पूजा देव पूजा की रीतिसे तथा

उसके स्वरूप से की जाती है। सम्राट के पितरों को सूअर तथा बकरे की बलि दीजाती है इस को स्वीकार करने के लिए पितरों का आव्हान किया जाता है और नैवेद्य रखकर उनका विसर्जन किए जाने के बाद कुटुम्बीजन नैवेद्य का प्रसाद लेते हैं।

दूसरी एक बात यह है कि उस से चीन में भी देवताओं और पितरों के बीच में माना हुआ भेद मालूम पड़ता है। मृत मनुष्यों को देने वाले बलिदान उनके रहने सहने तथा उनकी पदवी बतानेवाला पट्टा आगे रखे जाते हैं तथा राजमंदिरों में और राजवेदियों के पास देवताओं की प्रतिमाएं तथा प्रतिमा न स्थापन करने पर उनके पटे रखे जाते हैं। इस राजकीय नियम का उद्देश्य देव पूजा और पितृपूजा को मिश्रण करने का होता है। जहां पर लाखों पूजा करने वाले आते जाते हैं ऐसे हज़ारों देवताओं के मंदिरों में मनुष्य की आकृति की प्रतिमा के बदले पट्टे रखने पर कुछ भी असर हुआ हो ऐसा प्रतीत होता नहीं है। पितरों और देवताओं में जितना भेद है उतना ही पट्टे और प्रतिमाओं में है और राजकुटुम्ब की ओर से ऐसे भेद निकाल देने का प्रयास होने पर भी जन समाज के मगज़ में तो ऐसा भेद रहा हुआ ही है।

प्रथम भूतको चले जाने तथा हमेशा के लिए दूर रहने के लिए ललचाने के लिए मृत मनुष्य को लक्ष्य में रख कर उसे परलोक में अवश्य अन्न वस्त्रों के बलिदान दिए जाते होंगे

यह वस्तुएं यद्यपि उस की शब के साथ विधि पूर्वक न दबाई जाएं तो अगले पिछलों को हैरान करने के लिए वह लौटे ऐसे विश्वास से मृत की सामग्री में बढ़ती होती गई। मृत को प्रसन्न रखने, उस का सद्भाव संपादन करने तथा उसके द्रोह मिटाने के लिए अधिक अधिक वस्तुएं साथ दबाई जाने लगीं। इनको बलिदान कहते। एथन्स में यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई कि पिछले मनुष्य की पूंजी में से अमुक ही रकम अमुक कार्य्य में खरचने की हद बनाने के लिए सोलन को नियम बनाने की ज़रूरत पड़ी। चीन में यह प्रवृत्ति भयंकर प्रमाण से बढ़ी परन्तु एक युक्ति से इस को रोका गया। मृत मनुष्य के साथ दबाने अथवा जलाने में जो अन्न कीमती वस्त्र गुलाम और उप पत्निएं आतीं उनके बदले में कागज़ के गुलाम और उप पत्निएं, द्रव्य के बदले सोने अथवा चांदी के कागज़ और अन्न वस्त्र के बदले मिट्टी घास अथवा कागज़ की वैसी आकृतिएं जलाई जाने लगीं।

इस प्रकार पितरों को देने वाले बलियों का पुनरुद्धार होने लगा। यद्यपि उसका स्वरूप जैसे के तैसा ही है तो भी वह दिखावट मात्र हो गया। दूसरी ओर देवताओं को देने वाली बलिएं कृत्रिम नहीं परन्तु वास्तविक ही हैं। ऐसा भेद रहने का कारण यह है कि चीनी देवताओं से पूरा ठीक लाभ लेने की आशा रखते हैं। यदि पितर वास्तव में लाभ दे सकते ते उन्हों भी बलि चढ़ाई जातीं। अपने लाभ होने की आशा से

नहीं परन्तु केवल पितृ भक्ति के लिए ही चीन में पितृ पूजा कायम रही है पितृ पूजा यह कर्त्तव्य है और मुख्य कर्त्तव्य है। देव पूजा से वह दूसरी ओर है। मनुष्य में जितनी निःस्वार्थ वृत्ति की कल्पना की जाए उतनी निःस्वार्थ वृत्ति से पितृपूजा की जाती है और वह चीनीओं का अपने माता पिता के प्रति पूज्य भाव है।

पंचम प्रकरण

भावी जीवन

व्यक्ति के अस्तित्वका अन्त उसकी मृत्यु के साथ होता है ऐसा दुनिया के किसी भी ऐतिहासिक धर्म्म में नहीं माना गया। यद्यपि बैबिलोनिया असीरिया यहूदियों में धर्म्म तथा समाज और उसके देव और देवताओं के बीच हुई हुई प्रतिज्ञाओं के रूप में माना गया था और इसलिए भावी जीवन के विषय में विचार करनेका उनको अवकाश नहीं था यह होने पर भी मृत्यु के पीछे व्यक्ति का अस्तित्व किसी अंश में रहता है ऐसा माना जाताथा। चीन ग्रीस और रोम जैसे देशों में भी पितृपूजा का प्रचार बढ़ रहा था या बन्द हो रहा था। उन देशों में जो कि बैबिलोनिया, असीरिया और यहूदियों के धर्म्मों की तरह ही अस्पष्ट रीति से भावी जीवन को बताया गया था तो भी पितृपूजा की भावना में ही भावी जीवन का समावेश अपने आप ही हो जाता।

हिंदुस्थान के आदि निवासी जिन्होंने की हिंदु धर्म्म के भिन्न भिन्न संप्रदायों को स्वीकार किया हुआ है वह केवल भक्ति रूप धर्म्म से ही संतोष माने दिखाई देते हैं। इस लोकमें ही वह भक्ति से मुक्ति पाते हैं और इससे भावी जीवन की ओर उनकी मनोवृत्ति नहीं जाती । हिंदुस्थान और ईरान में दाखल होने से पूर्व इकट्ठ रहने वाले हिंदु और पारसिओं के पूर्वजोंने—परलोक में मनुष्यको अच्छे बुरे फल भोगने हैं—ऐसी भावी जीवन संबंधी कल्पना कर रखीथी । इस कल्पना का पारसी धर्म्म में इतना प्रचार हुआ कि पारसियों को ही पुनर्जीवन अंतिम न्याय और स्वर्ग का लाभ मिलेगा और अन्य धर्म्मी नरक में पड़ेंगे ऐसा मानते हैं। हिंदुस्थान पर चढ़ाई करने वाले आर्य्यों ने भावी जीवन की कल्पना को इतना गौण बना दिया कि वैदिक धर्म्म संप्रदाय में उसे महत्व का स्थान नहीं मिलसका । पाश्चात्य देशों की तरह भावी जीवन की कल्पना के बदले ब्राह्मण धर्म्म में पुनर्जन्म की अर्थात् संसार चक्र की कल्पना प्रचलित हुई देखने में आती है ।

प्राचीन उपनिषदोंमें पुनर्जन्मको माना हुआ होने से यह कल्पना उपनिषद् काल में ही उत्पन्न हुई होगी ऐसा मालूम होता है। परन्तु इस कल्पना का मूल क्या होगा उसे निश्चय नहीं हो सकता। जीवात्मा एक मानव देह में से दूसरे में जाता है ऐसा आस्ट्रेलिया के आदि निवासी मानते हैं परंतु देहांतर प्राप्ति के साथ ही अपने अच्छे बुरे कर्म्मों के फलका

संबंध है ऐसा वह नहीं मानते। ब्राह्मण धर्म्म में तो ऐसा माना जाता है कि अपने कर्म्मानुसार ही दूसरा जन्म प्राप्त होता है और दुष्ट जीवात्माओं की शिक्षा के रूपमें कोई भी पशु के देह को धारण करना पड़ता है जिसमें रह कर वह अपने कर्म्मानुसार ही दूसरा जन्म प्राप्त होता है और दुष्ट जीवात्माओं को शिक्षा के रूप में कोई भी पशु के देह को धारण करना पड़ता है जिसमें रह कर वह अपने दुष्ट कर्म्मों का फल भोगते हैं और फिर पुनः मनुष्य स्वरूप में आते हैं।

प्रत्यक्ष दृष्टिगत होने वाले इस अपार संसार चक्र में से किस प्रकार छूट सकें यही हिंदुओं के विचार का गूढ़ विषय है। ब्राह्मण धर्म्म एक धर्म्म के रूप में इसका उत्तर दिया जा सके ऐसा प्रतीत नहीं होता; परन्तु एक दर्शन शास्त्र के रूप में तत्व ज्ञान के नियम से उसका निर्णय करता है वह इस प्रकार कि आत्मा अथवा स्वयम् ब्रह्म से अभिन्न हैं और एक ब्रह्म ही सत्य है ,और जन्म जन्मांतर के बंधनों से आत्मा को मुक्त करना ही मोक्ष कहलाता है।

यह प्रश्न बुद्ध भगवान् को अधिक महत्व पूर्ण लगा। जन्म जन्मांतरोंके बंधनों से मनुष्य को किस प्रकार मुक्ति दिलाना ! यह एक ही प्रश्न मनुष्य के हित के लिए महत्वका है ऐसा उसकी बुद्धि में आया और संसार में से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसने निर्वाण की कल्पना की। निर्वाण प्राप्त

करने से व्यक्ति के अस्तित्व का अंत आता है कि नहीं इस विषय पर बुद्धने अपना अभिप्राय बताने से साफ इन्कार कर दिया । इस प्रश्नने तथा ईश्वर है कि नहीं ऐसे अनेक धार्म्मिक महत्व के धार्म्मिक प्रश्नों को उसने अज्ञेय माने हुए हैं । उसके अनुयायी ऐसी स्थिति को कायम नहीं रख सके । वह बुद्धको ईश्वर मानते हैं और अस्तित्व के अंत को नहीं परन्तु कृतार्थ मनुष्यों के जीवन को वह निर्वाण कहते हैं ।

ऐतिहासिक धर्म्मों में प्रतीत होती भावी जीवन की भावनाओं का इस संक्षिप्त अवलोकन से इतना तो स्पष्ट समझ में आता है कि किसी भी धर्म्म में मृत्यु के बाद व्यक्ति के अस्तित्व का अंत आता है ऐसा नहीं माना गया । केवल भिन्न भिन्न धर्म्मों में भावी जीवन पर थोड़े बहुत प्रमाण में ध्यान दिया गया है। हिंदु धर्म्म के भिन्न भिन्न संप्रदायों में इस विषय में बहुत थोड़ा वादविवाद किया गया है। चीन और प्राचीन ग्रीस तथा रोम में मृतकों की क्या गति होगी तथा उनकी क्या दशा होगी इस पर ध्यान न देते हुए मृतकों के भूत पीछे जीवित रहे हुए मनुष्यों का क्या हानि लाभ कर सकेंगे इस विषय पर पूर्ण ध्यान दिया है। बैबिलोनिया और असीरिया में तथा याहूदिओं में धर्म्म व्यक्ति का नहीं परन्तु सब समाज का है ऐसा खास माना जाता है और इस से देवके साथ व्यक्ति का नहीं परन्तु समाज का संबंध है ऐसा भी माना गया है तथा राजकीय समाज और धार्म्मिक समाज

का अस्तित्व उसी दुनियां में होने से समाज और उस के देवताओं के बीच की प्रतिज्ञा इस जीवन के लिए ही था ऐसा माना जाता। याहूदिओं जैसी छोटी समाजने अपनी समाज के राजकीय और धार्म्मिक अस्तित्व के लिए ही भारी प्रयत्न करने की आवश्यकता होने से स्वाभाविक रीति से अपनी समाज को कायम रखने के व्यवहारिक कार्य्य में ही उनकी सब शक्तिओं का खर्च होता और इस से भावी जीवन के ऊहापोह में उनका उपयोग नहीं किया गया था।

प्राचीन पारसी जो व्यवहार दक्ष तथा विजय शाली भी थे और विजय प्राप्त करने से यह भावी जीवन और परलोक का विचार करने का अवसर मिला था। उनके विचारों का झुकाव उनके संयोगों के अनुकूल हुआ। जब पारसिओं के बीच के संबंध चारों तरफ से जुड़े हुए थे और जब वह सर्वत्र विजयी थे तभी भावी जीवन के विचार उनके मनमें उत्पन्न हुए। परस्पर अन्दर मिले हुए इस समाज के दुनिया के जीवन युद्ध में विजय प्राप्त की थी उनकी दृष्टि से यह युद्ध अहुरमज़द के पूजकों के पवित्र समुदाय दुष्ट तत्व के (अहिर्मान) अनुयाइओं अर्थात् दुनिया की दूसरी सब प्रजाओं के साथ किया था इस परसे परलोक में भी हमारी समाज अहिर्मान के अनुयाइओं पर विजय पाएंगे ऐसा वह मानते।

प्राचीन पारसियों की तरह आधुनिक मुसलमान भी ऐसा मानते हैं कि अपने धर्म्म के मनुष्यों के लिए ही स्वर्ग बना

हुआ है। दूसरी सब प्राचीन राजकीय समाजों की तरह यह समाज भी एक राजकीय और धार्म्मिक संस्था थी, और इस धर्म्म में दाखल होने के लिए प्रथम उसके राष्ट्र निर्माण में प्रवेश होना पड़ता। इस्लाम समाज में इस प्रकार दाखल हुए मनुष्यों को नास्तिक माना जाता है और वह नरक के अधिकारी हैं ऐसा मुसलमान मानते हैं।

इस विषय में बौद्ध धर्म्म और ईसाई धर्म्म का मत इस्लाम धर्म्म से बिलकुल अलग ही है। पहले दो धर्म्मों में धार्म्मिक समाज और राजकीय समाज की ऐक्यता नहीं होने से उनमें दुनिया के सर्व सामान्य धर्म्म के रूप में स्वीकार किए जाने का सामर्थ्य है। निर्वाण अथवा स्वर्ग प्राप्ति के लिए उन दो धर्म्मों में दाखल होने वाले मनुष्यों को अपने राजकीय समाज छोड़ने की आवश्यकता नथी परन्तु केवल उन धर्म्मों पर विश्वास लाने तथा धर्म्म सिद्धान्तों को स्वीकार करने की ही आवश्यकता रहती है।

प्राचीन मिसर में और आधुनिक बौद्ध तथा ईसाई धर्म्मों में भावी जीवन की भावनाओं में रहे हुए भेद उन उन धर्म्मों में दाखल होने के लिए आवश्यकताओं पर से ही समझ में आते हैं प्राचीन मिसर में भावी जीवन के विषय में सविस्तर विचार किया जाता था और 'पिरेमिड' तथा प्रेत संहिता यह दो उनके विचारों को आचरण में रखने के लिए भारी प्रयत्नों के साक्षी हैं। प्राचीन मिसर में ईरान के प्राचीन धर्म्म

और आधुनिक बौद्ध तथा ईसाई धर्म्मों में भावी जीवन संबंधी विचार भिन्न भिन्न नियमों पर बने हुए दृष्टि गत होते हैं।

अपने राजा की जीतसे तथा अपनी प्रजा के अभ्युदय से प्राचीन ईरान के रहने वालों को ऐसा ज्ञान हुआ कि हम दुश्मनों से बढ़ कर हैं इससे उनमें असाधारण गौरव की भावना उत्पन्न हुई और उसके परिणाम में ऐसा मानने लगे कि सब परधर्म्मिओं के लिए स्वर्ग का द्वार बंद है और उनको नरक में डालना है। दूसरी ओर प्राचीन मिसर के रहवासियोंने परधर्म्मिओं के भावी जीवन के विषय में विचार करने का कष्ट ही न उठाया। वह तो अपने भावी जीवन के लिएं सामग्री तय्यार करने में ही रुके हुए थे। इस पर से प्रतीत होगा कि ईरान से बढ़ कर मिसर में राजा और प्रजा के उदय के अन्त समय में भावी जीवन विषय विचार किया गया होगा और उसमें वास्तविक श्रद्धा भी उत्पन्न हुई होगी।

भावी जीवन की भावना उत्पन्न हुई तब से प्राचीन ईरान की समाज परस्पर संबंध से मिला हुआ था और उस समय समाज की बराबरी में एक व्यक्ति का मूल्य बहुत थोड़ा होता था परन्तु इस भावना के उदय होने के समय मिसर तो एक साम्राज्य बना हुआ था और उसमें अलग अलग समाजें मिल गई थीं तथा प्रत्येक समाज अपने अपने देव और देवता को मानता। इस प्रकार मिसर धर्म्मी और उसके देवों के बीच की प्रतिज्ञाएं शिथिल पड़ गईं।

प्रतिज्ञाओं के शिथिल होने से मिसर धर्म्मी अपनी पर-लोक की दशा कैसी होगी उस पर विचार करने लगे। परन्तु प्राचीन ईरान में तो प्रतिज्ञा बनी रहने से उस धर्म्म के अनु-याई ऐसा ही मानने लगे कि इस लोक की तरह पर लोक में भी उसका भविष्य उसकी समाज के भविष्य के साथ ही मिला हुआ रहेगा। मिसर धर्म्मी जितना अधिक जादु उपयोग में लाया उतने ही विशेष अंश में अपने भावी जीवन के विचार करने का अवसर मिला।

व्यक्ति पर अपना अधिकार संभाल रखने से सामाजिक धर्म्म को निष्फलता जो प्राप्त हुई उसका यह एक दृष्टान्त है और उसके परिणाम में अपने परलोक में जीवन सुधारने के साधन स्वयं संपादन कर सकेंगे ऐसा दृढ़ विश्वास एक व्यक्ति को अपने ऊपर रहता है। इस जीवन के अनुसार भावी जीवन का भी आधार शरीरके संरक्षण पर ही है ऐसी उसने कल्पना की। इस कल्पना के अनुसार ही मिसर में मुड़दों को मसाला भर कर यत्न से रक्षा की जाती थी और वह सुरक्षित रहे इस लिए मिनार बना कर उनमें रखा जाता था।

इस प्रकार जिन मुड़दों की रक्षा पर भावी जीवन का आधार माना जाता था उन का इस क्रिया से विनाश नहीं हो ऐसी कोई निश्चयात्मक बात न कही जा सकती वैसे ही साधारण मनुष्य इस क्रिया से उनकी रक्षा करने की शक्ति न रखते और इस से मिसर के रहवासिओं को अन्त में जादु की सहायता लेनी पड़ी।

समान आकृति वाली वस्तुएं मूल वस्तु का उपयोग देती हैं यह जादू के मुख्य सिद्धान्त अनुसार मृत के शरीर की तरह की आकृति वाले पुतले भी मृत शरीर का उपयोग दे सकते हैं ऐसे विश्वास से परलोक में मृत का जीवन अधिक बढ़े इस लिए अधिक से अधिक पुतले बनाते । जादु का इतना उपयोग करके वह रुके नहीं । जीवन के लिए इस लोक तथा परलोक में आवश्यक अन्न वस्त्र और दूसरी सब वस्तुएं शबके साथ दबाने का रिवाज प्रथम मिसर में वैसे ही अन्य देशों में प्रचलित था । परन्तु इसके बदले जादु के प्रयोगानुसार खैंची हुई आकृतिओं का उपयोग किया जाता और ऐसी आकृतिएं मूल वस्तु से भी बढ़ कर टिकाऊ होने से, मूल वस्तुओं से भी अधिक उपकारक मानी जातीं । निदान मृत मनुष्य इस लोक में जो जो उद्योग करता और जो जो भोग भोगता रहा वही परलोक में उसे मिलेंगे; ऐसा निश्चय जादु के उपचारों से किया जाता कारण कि अमुक मनुष्य अमुक कार्य्य करता है ऐसा जादु के प्रयोग से लिखे जाने से वह मनुष्य परलोक में उसी कार्य्य में प्रवृत्त होगा ।

इस प्रकार मिसर की और प्राचीन ईरान की परलोक की भावना में इतना भेद होता कि पारसी परलोक को अपनी समाज का अंतिम विजय का स्थान मानते और मिसर वासी उसे लौकिक भोग भोगने के स्थान के रूप समझते । बौद्ध और ईसाई धर्म्म की भावी जीवन की कल्पना ऐसी थी कि उसे सुधारने के लिए

मनुष्य को सामान्य जीवन छोड़ कर इन धर्म्मों को स्वीकार कर अपना जीवन उच्च बनाने की आवश्यकता रहती है परन्तु मिसर वासियों के मतानुसार तो अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिए उनके धर्म्म को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती परन्तु केवल उनके जादु के प्रयोगों की सहायता की ज़रूरत रहती है।

तो भी हमें इतना मानना चाहिए कि जादु ने मिसर के धर्म्म को बिलकुल निकाल ही नहीं दिया। मुक्त लोगों के स्थान में प्रवेश पाने के लिए उन्होंनें भी कितनी शरतें रखी हैं। स्वयं इस लोक में नीतिमय जीवन बिताया है ऐसा परलोक के न्यायाधीशों के सन्मुख साबित करने की शक्ति पर मृत मनुष्य के भावी जीवन की स्थिति का आधार रहा हुआ है ऐसा वह मानते हैं। मिसर वासी दूसरों की तरह, नीति और धर्म्म एक दूसरे के साथ मिले रहते हैं, ऐसा मानते हैं। यद्यपि परलोक और भावी सुख की कल्पना ने मिसरवासी के नैतिक और धार्म्मिक जीवन को उन्नत बनाया था तो भी जादु पर पड़ी हुई उनकी अगाध श्रद्धा से वैसा जीवन कायम न रह सका। यद्यपि वह नीति और धर्म्म जितनी ही श्रद्धा जादु पर न रखी होती तो प्रेत संहिता में जादु को इतनी बड़ी महत्ता न दी जाती।

मिसर वासियों पारसियों और मुसल्मानों की परलोक विषय में ऐसी कल्पना देखने में आती है कि वहां पुण्यशाली

मनुष्य लौकिक सुख भोगते हैं और पापी मनुष्य सज़ा पाते हैं। परलोक में अपने इस जन्म के कर्मानुसार अच्छा बुरा फल मिलता है ऐसा अब भी बहुत से मनुष्य मानते हैं। अपने को इस दुनिया में न्याय न मिला हो तो वह मिलना ही चाहिए ऐसी प्रबल इच्छा सब को होने से बहुत से मनुष्य और मुख्य तया उपयोगिता के नियम मानने वाले तत्वज्ञ इसी को ही भावी जीवन मानने का ठीक कारण बताते हैं। इस मतानुसार जो बंधु विश्व न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाए वह अन्त में सबको न्याय मिलना ही चाहिए ऐसा हमारा निर्णय ही भावी अच्छे और बुरे फलों में श्रद्धा उत्पन्न करने में समर्थ है।

हमारी न्याय वृत्ति को लक्ष्य में रख कर प्रतिपादन किए हुए इस सिद्धांत में इतना तो प्रथम ही मान लिया है कि यदि न्याय मिलना हो तो जो दुष्ट मनुष्य अपने दुष्कर्मों से इस दुनिया में निभ जाता है उसे न्याय का बराबर हक रखने के लिए परलोक में उसके दुष्कर्म्मों का बदला मिलने की आवश्यकता है। ईसाई धर्म्म इसी विश्वास पर आक्षेप करता है। यदि एक तरफ से सारी दुनियाका लाभ होता हो और दूसरी ओर अपना नाश हो तो उसमें दुष्कर्म्म करने वाले को क्या लाभ मिलेगा ? इस दृष्टि से विशेष सज़ा को व्यर्थ और असंभव माना है और पाप ही पाप का दंड रूप होगा ऐसा बताया है।

इस लोक में सबको अपने कर्म्मों का फल नहीं मिलने से परलोक में वैसा फल मिले ऐसी प्रत्येक मनुष्य की इच्छा होती है परन्तु उसमें अपने को नहीं पर दूसरे सबों को उनके दुष्कर्म्मों का बदला मिलना चाहिए ऐसी विशेष इच्छा होती है। अपने विषय में तो मनुष्य अपने अपराध क्षमा करे ऐसी प्रार्थना करते हैं। यह प्रार्थना भी न्याय की प्रार्थना जितनी स्वाभाविक और आंतरिक होती है। बैबिलोनिया के पश्चात्ताप के स्तोत्र में बताया है कि ' मेरे प्रभु मेरे पाप अनगिनत हैं, उन्हें एक वस्त्र की तरह फाड़ दो मेरे अपराध क्षमा करो '

परन्तु ईसाई धर्म्म में तो जबतक मनुष्य अपने अपराधियों के अपराधों को क्षमा नहीं करता तबतक उस से इस प्रकार प्रार्थना की नहीं जा सकती। खुद जैसी क्षमा मांगता है वैसी क्षमा उसे प्रथम दूसरों पर क्षमा करना चाहिए। यदि अपने लिए न्याय नहीं पर क्षमा मिले ऐसा वह इच्छा करता हो तो उसी के अनुसार उसे दूसरों पर भी न्याय से बढकर प्रबल और उत्तम ऐसे स्नेहका वर्ताव करना चाहिए। ईसाई धर्म्मा-नुसार यही प्रेम की भावना है इन भावनाओं के अनुसार ईसाई धर्म्म में दो मुख्य आज्ञाएं की गई हैं कि मनुष्य को सर्व भाव से ईश्वर पर प्रेम करना चाहिए और अपने ऊपर जैसा प्रेम रखता है वैसा ही प्रेम उसे अपने पड़ोसी पर करना चाहिए। भावी जीवन मानने का कारण पूर्व बताई हुई मनुष्य के न्याय प्राप्त करने की इच्छा ही है तो ही परलोक को इस

लोक में किए हुए कामों का हिसाब चुकाने का स्थान के रूप में माना जाए, पर ईसाई धर्म्म में ऐसा नहीं माना जाता। ईसाइयों का ऐसा विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के संबंध में ईश्वर की इच्छा सिद्ध करनी और प्रेम का समग्र कार्य्य परिपूर्ण होना चाहिए। यह विश्वास ईसाई धर्म्म के भावी जीवन के विश्वास का स्वरूप है।

अनिष्ट भोगने से किसी का अनिष्ट करना यह अधिक खराब है यह बात ग्रीक लोगों की और उनमें अरिस्टोटल की दृष्टि से बाहर न थी। यदि केवल अनिष्ट करने से ही बचना हो तो वह इस दुनिया तथा जीवन में से निवृत्त होने से ही हो सकता है। बौद्ध धर्म्म ने यह निषेधात्मक निर्णय बताया है। सब अनिष्ट का मूल यह जीवन में से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करने के लिये अपनी सब इच्छाओं को त्याग कर के दुनिया के दूसरे मनुष्यों के साथ अपना संबंध मनुष्य को छोड़ देना पड़ता है। इस प्रकार बुद्धधर्म्म और ईसाई धर्म्म की इस लोक तथा परलोक की भावनाएं भिन्न हैं। बुद्ध लोग इस जविन को बल्कि जीवन मात्र को ही नरक रूप मानते हैं और उससे छूटने का मार्ग ढूंडते हैं। ईसाई लोग मानते हैं की इस लौकिक जीवन में ही प्रभु का साम्राज्य प्रत्यक्ष होने तथा उसकी इच्छा परिपूर्ण होनी संभव है। यह जीवन तथा भावी जीवन संबंधी ईसाई धर्म्म का उपदेश प्रवृत्यात्मक है। मनुष्य को दुनिया से निवृत्त होना पाप से मुक्त होना तथा जीवन में

से छूटने का मार्ग ढूंडना चाहिए एसा केवल उसमें बताया नहीं परन्तु उसे अपने पड़ोसी तथा प्रभु पर प्रेम रखना तथा अनंत जीवन के मार्ग को ढूंड निकालना ऐसा फर्माया है।

दुनियां के भिन्न भिन्न धर्म्मों में भावी जीवन की जो भिन्न भिन्न कल्पनाएं देखी जाती हैं उनका स्वाभाविक रीति से व्यक्ति के स्वभाव तथा गौरव की भिन्न भिन्न कल्पनाओं के साथ संबंध होता है। जब समाज को अपने जीवन युद्ध में अतिशय बल लगाने की आवश्यकता पड़ती है और उस के लिये जब मनुष्यों का भोग देकर अपना अस्तित्व कायम रख सकती है तब उस समाज के मनुष्यों के जीवन की थोड़ी ही कदर की जाती है। 'जल्दी या देर से सब को मरना ही है'। समाज का देव भी समाज के अभिप्राय से मिलता ही होता है। वह देव के सामने समाज के अंग के रूप में ही मनुष्य प्रतिष्ठा पाते हैं। एक मनुष्य की तरह उसका उस देव पर हक़ नहीं रहता और जब इस लोक में नहीं रहते तो परलोकमें तो कहां से रहें? असीरिया तथा बेबिलोनिया के धंर्म्मों में यहूदी धर्म्म में और प्राचीन ग्रीस तथा रोम के लोगों के धर्म्म में ऐसा ही माना गया है। मृत्यु के बाद सब नरक में जाते हैं ऐसा वह मानते हैं।

प्राचीन ईरान में धर्म्म की तरह जहां परलोक के स्वर्ग और नरक ऐसे दो विभाग डाले हुए हैं वहां भी उनकी समाज में दाखल होने वाले को ही स्वर्ग मिलता है ऐसी कल्पना

की गई है। मनुष्य को एक मनुष्य के रूप में नहीं परन्तु समाज के अंग के रूप में ही स्वर्ग में प्रवेश मिलता है।

देवता समाज का ही होता है और उस देवता पर मनुष्य का मनुष्य के रूप में कोई भी किसी प्रकार का हक हो नहीं सकता ऐसी कल्पना एकेश्वरवाद के स्वीकार करने वाले याहूदी धर्म्म में तथा द्वंद्ववाद का स्वीकार करने वाले पारसी धर्म्म में बहुत काल तक कायम रही देखने में आती है। जेरेमिया और एजेकियल के समय तक याहूदी धर्म्म में " धर्म्म समाज का है ऐसी भावना प्रचलित थी। यहोवाह और उसकी प्रजा अर्थात् याहूदी समाज इन दो का संबंध वह धर्म्म भी यहोवाह् का समाज की व्यक्तियों के साथ संबंध न था इस विश्वासने धार्म्मिक व्यवहार पर बहुत ही असर किया है। व्यक्ति के धार्म्मिक व्यवहार और उसकी पवित्रता को उसने ही विकास होने से रोके होंगे "

प्राचीन मिसर तथा जिस समय डीमीटर की मौनपूर्वक, कराने वाली उपासनाओं का प्रचार बढ़ गया था उस समय के ग्रीस जैसे ही देशों में भावी सुख का आधार मनुष्य के अपने ही कर्म्मों पर रहता है ऐसा माना जाता। वहां व्यक्ति के धार्म्मिक स्वतंत्रता की भावना का समावेश देखने में आता है। यह विश्वास समाज के उसके देवों के साथ के संबंध में किसी अंश में परिवर्तन करने में समर्थ हुआ है। धर्म्म में मनुष्य के देव के साथ के स्वतंत्र संबंध का भी समावेश होता

है वैसे ही धर्म्म मात्र समाज का ही नहीं परन्तु मनुष्य का है ऐसी भावना उसने उत्पन्न की। ईश्वर की भावना का विस्तार करने से समाज का और समाज के व्यक्तियों का भी है ऐसा बताया है। ज्यूं ज्यूं ईश्वर संबंधी मनुष्य की कल्पना विस्तृत होती है त्यूं त्यूं अपनी जाति के संबंध में भी उसकी कल्पना विस्तृत होती है।

अपनी व्यक्ति के संबंध में मनुष्य की कल्पना का विस्तार दो प्रकार हो सकता है। एक तो जब अपने आप को वह स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में मानता है तब और खुद व्यक्ति के रूप में ही अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेगा ऐसा मानता है तब; और दूसरा जब वह स्वयम् एक समाज के अंग रूप मानता है और समाज के अंग रूप ही अपनी व्यक्ति का उसे ज्ञान होता है तथा स्वयं उन्नति करता है ऐसा मानता है तब, अपने संबंध में वह जैसी कल्पना करता है उसका प्रतिबिंब स्वाभाविक रीतिसे उसकी परलोक की भावना में होता है। प्राचीन मिसर वासियोंने ऐसी कल्पना की थी। परलोक में वह स्वयं स्वतंत्र रीतिसे परम सुख प्राप्त करेंगे। प्राचीन पारसियों की तरह अथवा तो आधुनिक मुसलमानों की तरह उन्होंने परलोक में अपनी समाज को स्थान न दिया था। इन तीनों धर्म्मों में स्वर्ग में लौकिक सुख भोगने के स्थान की कल्पना की है। स्वर्ग में मनुष्य की इच्छाएं परिपूर्ण होती हैं और वह स्वयं भोग भोगता है। उनकी मनुष्यत्व की कल्पना

में अपने ही सुख को ढूंडने वाली व्यक्ति का समावेश होता है।

ईसाई धर्म्म में मनुष्यत्व की ऐसी कल्पना की जाती है कि मनुष्य, दूसरों को, अपने पड़ोसी को, और अपने ईश्वर को चाहना और उसे अपनी नहीं परन्तु ईश्वर की इच्छा परिपूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। जितने प्रमाण में मनुष्य ईश्वर की इच्छा परिपूर्ण करने का प्रयत्न करता है उतने ही प्रमाण में उसकी योग्यता गिनी जाती है। वह अपनी बुद्धिका स्वार्थ में उपयोग करे अथवा ईश्वर की सेवा में लगाए तो भी बाकी रहे हुए सेवा करने के लिए उसे आदेश किया जाएगा और इस प्रकार उसके मनुष्यत्व का अधिक विश्वास होगा। और इस प्रकार अन्त में वह ईश्वरत्व को अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर सकेगा। ईसाई धर्म्मानुसार मात्र प्रेम से ही मनुष्यत्व का विकास हो सकता है और प्रभुता का ज्ञान प्रेम से ही हो सकता है।

षष्ठ प्रकरण

द्वंद्ववाद

संस्कृत और फारसी अथवा ईरानी भाषा में इतनी समता है, तथा सब आर्य्य अथवा हिंदु यूरोपीय भाषाओं में, इन दो भाषाओं का आपस में इतना संबंध देखने में आता है कि इस से इन दो प्रजाओं के

धर्म्मों में भी इतनी ही महत्वपूर्ण समता होगी ऐसा माना जा सकता है। परन्तु बराबर परीक्षा करने से इस प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते। यज्ञों में वर्णन की जाने वाली जिस सोम का हिन्दु उपयोग करते उसी शब्दसे निकला हुआ होम शब्द पारसियों की धर्म्म पुस्तक में देखने में आता है। राक्षस और देवताओं के जाति वाचक नामों की तरह संस्कृत में ' असुर ' और ' देव ' यह दो शब्द प्रयोग में आते हैं और फारसी में भी ' दइव ' और ' अहुर ' ऐसे दो शब्द मिलते हैं परन्तु इन दो भाषाओं में कोई भी देवता के लिए एक ही शब्द वर्ता हुआ नहीं देखा जाता और यद्यपि सामान्य रीतिसे हिंदु तथा पारसी अग्नि पूजक के रूपमें प्रसिद्ध हैं और इस प्रकार वह अग्नि पूजा भी करते आ रहे हैं तो भी इन दोनों की पूजा का प्रकार भिन्न ही होना चाहिए ऐसा हिंदुओं के वर्ते हुए ' अग्नि ' शब्दसे (लेटिन–इग्निस) और पारसियों में उपयोग किए हुए ' आतश ' शब्दसे (कई एक विद्वानों के मतानुसार जिसका संबंध लैटिन एट्रियम शब्द के साथ है) मालूम पड़ता है।

इस परसे ऐसा अनुमान हो सकता है कि दो धर्म्मों की पूर्व भूमिका में धार्म्मिक प्रगति की पूर्वावस्थामें जैसी व्यक्तियों को लक्ष्य में रख कर यज्ञ किए जाते हैं, वैसी दैवी व्यक्तियों के सिवाय दूसरे किसी भी बात में समता नहीं देखी जाती। इससे वह पूर्व भूमिका हमें उपयोगी हो ऐसा नहीं

परन्तु उसमें से जरथोस्ति धर्म्म का उद्भव किस प्रकार हुआ इस का विचार करना उचित है।

जब एक देशपर दूसरा धर्म्मवाला चढ़ाई कर विजयी हो तब उस देश के पुराने देवताओं को एकदम बिदा नहीं कर देते। नए धर्म्म में भी उन देवताओं को माना जाता है केवल उनकी प्रतिष्ठा में परिवर्तन हो जाता है। जिन देवताओं पर प्रजा का अधिक प्रेम देखने में आता है वैसे देवताओं को नए धर्म्म की सहूलियत के लिए अमुक पदवी दी जाती है और बाकी के सब देवों को झूठे देवों के रूपमें अथवा भूत प्रेत पिशाच और राक्षस के रूपमें गिना जाता है। हिंदु और पारसियों के सामान्य पूर्वजों से प्रचलित धर्म्म के स्वरूप का जरथोस्ती धर्म्म में रूपांतर हुआ है यह बात निर्विवाद है। वैसे ही नवीन धर्म्म की स्थापना करने वाला जरथुस्त्र ऐतिहासिक पुरुष था वह भी निर्विवाद है और प्राचीन ईरान में दूसरे देशों की तरह पुराना धर्म्म नए धर्म्म के अनुकूल हो गया है यह भी स्पष्ट रीति से मालूम हो जाता है। पुराने धर्म्म की अग्नि पूजा नए धर्म्म में प्रचलित रखी गई है और ऐसा परिणाम यद्यपि वह पूजा के प्रभाव से पारसी प्रजा का चित्त उस तरफ आकर्षित रहा होने से हुआ हो ऐसा मालूम होता है तो भी हमें इतना तो मानना पड़ेगा कि जरथुस्त्र धर्म्मगुरु होने से तथा वह अग्निपूजक होने से उसकी भी इस में सहायता मिली। उसने अग्नि की उपासना प्रचलित रखी

है इतना ही नहीं परन्तु उसका महत्व भी उसने बढ़ाया है और परापूर्व से चलता है ऐसा जरथोस्ती धर्म्म में भी उसे मुख्य धर्म्म किया माना गया है। दूसरे धार्म्मिक सुधारकों की तरह वह भी नया धर्म्म की स्थापना करने वाले के रूप में अपने आप को मानता नहीं केवल वह पुराने धर्म्म का उद्धारक होने का दावा करता है। यदि अग्नि देवता उसके कुल का वंश परंपरा से माना जाता देव था और जिसका वह स्वयम् उपासक था वह अग्निदेवता एक 'अहुर' अर्थात् दैवी व्यक्ति अथवा देव था और उसने 'अहुरमझद' के रूप में मान कर जब उसने प्रतिष्ठा बढाई तब 'अहुरमझद' नया देव है ऐसा उसने कभी भी प्रगट नहीं किया। उस के विश्वास के अनुसार वह केवल पुराने देवता की उपासनाका ही उद्धार करता था। अहुरमझद के संबंध में सर्वदा शास्त्रीय कल्पना ऐसी की गई थी कि वह स्वयंभू ज्योति में प्रकाश होने वाली ज्वाला रूप है।

जरथुस्त ने अपने विश्वासानुसार धर्म्म का उद्धार करने का जो कार्य्य आरंभ किया था उसके साथ साथ धर्म्म में सुधार करने की भी उसे आवश्यकता प्रतीत होने लगी और सुधार में उसने पारसियों के हिंदु–पारसी के बड़ों से प्रचलित दैवपूजा बंदकी। इस सुधार में 'एकी मीनाइडी' के वंशजों की तरफ से उसे सहारा मिला। इस प्रकार 'देवों' की पूजा का लोप किया गया था तो भी उनका अस्तित्व पारसी प्रजा की वृत्ति में तो प्रचलित ही रहा और उनको झूठे देवताओं के

रूप में अथवा राक्षसों की तरह माना गया था। संक्षेप से उनको दुष्ट राक्षसों जैसा गिन कर अलग कर दिया था। धार्म्मिक विकास की समान दशा में रहे हुए दूसरे लोगों की तरह प्राचीन पारसी भी उनके दुष्ट आक्रमण का भय रखते और ऐसे राक्षसों को वह 'द्रुख' कहते।

धार्म्मिक इतिहास में पारसिओं ने जो द्वंद्ववादरूप विशिष्ट अंश को जोड़ा है, उस द्वंद्ववाद की इसी में से उत्पत्ति हुई है। धार्म्मिक विकास की पूर्वावस्था में बहुतसी बल्कि सब प्रजाओं ने जिनके साथ नियमित संबंध बंधा हुआ है और जिनकी वह पूजा करते हैं—वैसी शक्तिएं और जिनकी पूजा नहीं की जाती पर या जिनकी तरफ से आपत्ति आ पड़ेगी ऐसा माना जाता है—उन शक्तिओं के विभाग किए हुए हैं। प्राचीन ईरान में भी इस से विशेष नहीं हुआ था। यद्यपि आरंभ में पारसी धर्म्म में द्वंद्ववाद के लिए ही ऐसे विभागों से बढ़कर कुछ न था तथापि ज्यूं ज्यूं यह द्वंद्ववाद आगे बढ़ते गए त्यूं त्यूं वह बहुत बढ़ते गए। यह ठीक रीति से समझने के लिए प्रथम हमें, जिन देवों का पारसी समाज पूजा करता था उन पर नहीं परन्तु जिन शक्तियों की तरफ से उन आफतोंका भय रहता उन शक्तियों पर ध्यान देना चाहिए। द्रुख और देव यह ऐसी शक्तिएं थीं। उनके खास नाम न थे और उनकी संख्या भी बहुत ही थी। जगत् के द्रोह करनेमें तथा सबके अनिष्ट करने में ही वह बराबर प्रवृत्त रहते थे।

पारसी धर्म्म के द्वंद्ववाद के इस तत्व का अथवा तत्वों के संबंध में जरथुस्त ने ऐसा नहीं माना कि वह शक्तिएं एक अमुक देहधारी व्यक्ति के आविर्भाव हैं। जिन देवों की पारसी तथा हिंदुओं के बुजुर्ग पूजा करते थे, उन देवों को पारसी लोग द्रुखों जैसा माने इतनी ही जरथुस्त को उस समय ज़रूरत थी ऐसा हम वास्तविक रीति से अनुमान कर सकेंगे। पारसियों के पुराने धर्म्मग्रन्थों अर्थात् गाथाओं में दैव और द्रुख यह दो पाप के ही अविर्भाव हैं ऐसा बताया है। इस से अधिक तत्वज्ञान में आगे बढ़े नहीं। केवल अवस्ता के बहुत प्राचीन विभाग में दुष्ट शक्तियों के नायक रूप अहिमान की गुणधर्म्मवाली मूर्ति हमारे सन्मुख खड़ी होती है।

पारसी धर्म्म के द्वंद्ववाद के दूसरे तत्व की ओर हम दृष्टि डालेंगे तो हमें मालूम पड़ेगा कि जरथुस्त और गाथाओं का अहुरमझद को एक स्वतंत्र देव की तरह मानना कि एक ' मिश्रदेव ' की तरह मानना, इस के निर्णय करने में बड़ी कठिनाई आती है। अहुरमझद को ' मिश्रदेव ' गिनने का यह कारण है कि वह अपने गुणों का अविर्भाव रूप छ व्यक्तियों द्वारा अपना बल तथा ऐश्वर्य अज़माते हैं। इन छ पार्षदों अर्थात् फरिस्तों को ' अमषास्पंद ' कहते हैं। वह अमर और पवित्र हैं। वह अग्नि पृथ्वी जल धातु पशु और वनस्पतियों के अधिष्ठाता हैं इस प्रकार पारसी धर्म्म के द्वंद्ववाद में जितना अमषास्पंद का ' स्पेन्तमेइन्यू ' अथवा श्रम शक्ति के साथ संबंध

है उतना ही दुख और दैवों का 'अंग्रमइन्यु' अथवा दुष्ट शक्ति के साथ संबंध है। गाथाएं और अर्वाचीन अवस्ता के विभागों में किसी भी कारण से भेद हुआ हो तो भी जब अंगमइन्यु अथवा दुष्ट शक्ति को बहुत काल बाद गुण धर्म वाले मूर्त रूप में अहिमान के रूप में स्वीकार किया गया है तब उसी प्रकार 'स्पेन्तमइन्यू' अथवा भ्रम शक्ति को भी कुछ समय बाद गुणधर्म्म वाला मूर्त स्वरूप में अहुरमझद के रूप में स्वीकार किया होगा और प्रथम अहुरमझद को स्वतंत्र व्यक्तिरूप में गिना नहीं जाता होगा।

विश्व के संबंध में जरथुस्त्र की ऐसी कल्पना है कि वह शुभ शक्तियों और दुष्ट शक्तियों के तथा पवित्रता और अपवित्रता के तथा जीवन और मरण की युद्ध की रंगभूमि है। यद्यपि यह द्वंद्ववाद सृष्टिक्रम में मात्र उपरि ही है तोभी अंत में सत्य और न्याय की विजय होगी, सब प्रकार की अपवित्रता का नाश होगा और नया स्वर्ग और नई पृथिवी रची जाएगी। जरथुस्त्रने अहुरमजद शब्द विशेष नाम के रूप में वर्ता नहीं है। पारसी मझद का अर्थ प्रज्ञा होता है उस के आगे अहुर रखने से अहुरमझद अर्थात् प्रज्ञा सर्वेश्वरी है ऐसे सूचित किया जाता है। अहुरमझद केवल पवित्रता, विशुद्धता और न्याय की मूर्ति है। यह न्याय अच्छे बुरे कर्म्मों का फलरूप है। फिर जरथुस्त्र के मतानुसार अन्तिम न्याय के दिन बुरे कर्म्मों का बुरा और अच्छे कर्म्मों का अच्छा फल मिलेगा। जरथुस्त्र

की अन्तिम न्याय की योजना में यज्ञ तथा स्तुति को अवकाश ही नहीं रहता दया और क्षमा के लिए उस के उपदेश में, एक भी शब्द इस्तेमाल किया हुआ देखने में नहीं आता परम प्रज्ञा को यज्ञ की रिश्वत दी नहीं जा सकती अथवा स्तुतिद्वारा धोखा भी दिया जा सकता नहीं। अवस्ता में धर्म्म के लिए मात्र दीन (कायदा) शब्द ही मिलता है।

दुनिया में अच्छा है और बुरा भी है और अन्तिम न्याय के दिन अच्छों का विजय होगा ऐसे विश्वास पर जरथुस्त्र का नया धार्म्मिक सिद्धांत रचा हुआ था। पुण्य पाप के द्वंद्व में मनुष्य फंसा हुआ है और उसके कर्मानुसार अन्तिम निर्णय होगा। विशुद्ध पवित्र और प्रामाणिक रहने से मनुष्य अन्तिम विजय की ओर प्रयाण कर सकता है और पारसी जो दीन अथवा कायदे को धर्म्म मानते हैं उसके अनुसार अन्तिम दिन उनका न्याय होना है। बलिदान और यज्ञों से नहीं परन्तु प्रमाणिक सत्य और न्याय कर्म्म करने से ही मनुष्य बच सकता है इस प्रकार जरथुस्त्र के सुधार कर्मकाण्ड का अन्त लाए। और यज्ञ विधि तथा स्तुति को फजूल तथा आपत्ति जनक माना गया।

परन्तु परम प्रज्ञा अथवा अहुरमझद के तीन गुणों में से एक गुण ' विशुद्धि ' होने से प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप के कर्म्मों की वृद्धि हुई। अहुरमझद को ' मिश्रदेव ' बनाने वाले उसके छ अमषास्पंदों में से अग्नि पृथिवी और जल इन

तीनों को अशुद्धि से रक्षा करने का आदेश किया गया। इन तीनों को पवित्र गिना गया था और इनको मलिन न किया जाए उसकी रक्षा करनी थी। प्राचीन काल से अमुक वस्तु को पवित्र रखने के प्रचलित विश्वास को जरथुस्त्रने स्वीकार किया। आजतक भी पारसी लोग पुराने विचार के याहूदियों की तरह बहुत ध्यानपूर्वक इसका पालन करते हैं। जब घर में किसी की मृत्यु होती है तब उस घर में रखा हुआ अग्नि अशुद्ध न हो इस लिए उसे बुझा देना पड़ता था। अग्नि पर मांस पकाने को रखा हो और जो वह उभराए तो भी अग्नि अपवित्र होता है। जल पवित्र है इससे जब वर्षा पड़ती हो तब शव को दफन करने के लिये नहीं ले जाते। यदि मनुष्य का अथवा कुत्ते का शव जमीन को छुए तो वह जमीन अपवित्र होती है। जिस खेत में ऐसे शव पड़े हुए देखने में आते हैं उस खेत में एक वर्ष तक बोने का निषेध होता है इस प्रकार धातु भी अपवित्र होते हैं।

अहुरमझद के गुणों में विशुद्धिका अंतर्भाव होनेसे जरथुस्त्रने इन सब बातों को माना है। परम तत्व विशुद्धि है और अशुद्धि से उसकी रक्षा करने की आवश्यकता है ऐसी अपनी समाज की श्रद्धा में उसने विश्वास करके कार्य्य आरंभ किया है। केवल अग्नि के अधिष्ठाता का नहीं परंतु इस के उपरांत पृथिवी जल धातु, पालतुपशु और बोए हुए पौधों के भी अधिष्ठाताओं का भी एक धार्म्मिक कर्त्तव्य के रूप में अशुद्धि

से रक्षण करने की ज़रूरत है। समाज की श्रद्धा में वह दृढ़ रहा है यह अधिष्ठाता अर्थात् छ अमषास्पंद अथवा तौ इन छओं के मिलने से होनेवाला 'मिश्रदेव' अहुरमझद ऐसी आज्ञा करता है कि मनुष्यों को हमारी विशुद्धि की सर्व प्रकार से रक्षा करनी उनको यज्ञों की ज़रूरत नहीं और उनको स्तुति का असर होगा नहीं परन्तु पाप के सामने लड़ने में मनुष्य को जो सहायता ऐसे 'मिश्रदेव' रूप अमूर्त निर्गुण तत्व से मिलती है इस से अधिक सहायता की ज़रूरत है।

इसके लिए पारसियों को अन्तमें जिस की स्तुति तथा जिसके यज्ञ कर सकें ऐसी सगुण व्यक्तियों का आश्रय लेना पड़ा। पीछेसे 'एकीमीनाईड' के समय में अर्थात् इ. स. ४०० से पूर्व के लगभग आरटेकझरसीस नेमोन के शिलालेख में अहुरमझद के साथ आर्य्यों के देव मिश्र का तथा सेमेटिक देवी अनहिताका उल्लेख देखने में आता है। तब से वह आरमझद के साथ ही मिला हुआ है परन्तु उनको आरमझद से नीचे की पंक्ति में गिना गया है। अहुरमझद अथवा उसके किसी भी अमषास्पंद से मिश्र अधिक जागृत सगुण और मूर्त देवता है। उन मनुष्यों को उनके कर्म्मों का अच्छा बुरा फल मिलता है और उनको लौकिक समृद्धि देते हैं तथा ले भी लेते हैं। पारसियों के देववाद में ऐसी मूर्ति के अंतर्भाव होने से उनके मूल विश्वास में स्वाभाविक परिवर्तन हुआ है और जिन का जरथुस्र को भी ध्यान तथा वैसे इस कारण के लिए परम

प्रज्ञारूप अहुरमज्ञद को पीछे से मूर्तिमान् देव आरमज्ञद के रूप में गिना जाने लगा है। इसी समय में बहुत पीछे की अवस्ताओं में दुष्ट तत्व अहिमान रूप मूर्तिमान् हुआ है।

जिन यज्ञों और तर्पणों को जरथुस्त्रने अपने नए धर्म्म में से इतनी चतुरता से निकाल दिए थे कि होम (सोम) का भी नाम गाथाओं में उसने न लिया था अब यह और तर्पणों का पुनः जब मूर्तिमान् देवता मिथ्र और अनहिता के पूजा का आरंभ हुआ तब स्वीकार किए गए और पारसी धर्म्म तांत्रिक पूजा और कर्म्म काण्ड की सतह पर आ गया। इस के उपरांत धर्म्म शास्त्रों की भी पूजा कराने लगा और उनको लक्ष्य कर के भी यज्ञ होने लगे। इस से भी आगे बढ़कर पारसियों ने होम निकाल ने के यंत्रों की पूजा करनी आरंभ की और स्तुतिमात्र मंत्रों को पढ़ जाने में ही रह गई।

पारसी धर्म्म की अधोगति का पारसियों की राजकीय अधोगति के साथ संबंध नथा ऐसा नहीं हो सकता। आरमज्ञद और उस के निमकहलाल सेवकों को पारसी समाज के अन्तिम न्याय के दिन विजय मिलेगी यह विश्वास बढ़ता गया और परिणाम में धार्म्मिक विचारने इस लोक के बदले परलोक का मार्ग पकड़ा। जब मनुष्य मर जाता है तब उसका देह भिन्न भिन्न तत्वों में मिल जाता है, हड्डी पृथिवी में, रक्त जल में जीवन अग्नि में और केश वनस्पति में। अंतिम न्याय के दिन जीवों को उनसे देह के अंग पुनः मिलेंगे और प्रत्येक मनुष्य जिस जगह वह

मर गया होगा उसी जगह वह उठकर खड़ा होगा और उसके सब गुणधर्म उस में फिर आ जाएंगे। इस पुनर्जीवन के प्रसंग पर पुण्यशाली और पापी उठकर खड़े होंगे और पहले स्वर्ग में जाएंगे दूसरे नरक में। उस समय पुण्यशाली पापियों के लिए और पापी अपने लिए बहुत ही पश्चात्ताप करेंगे और सब दुनिया में दुःख और रोना हो जाएगा। जितना दुःख एक लेले को भेड़िए से मारे जाने पर होता है उतना ही दुःख सारी दुनिया को होगा। तब सब पहाड़ और चोटियें गलकर ज़मीन पर फैलेंगी और प्रत्येक को इस पिघले हुए पत्थर को पार करना पड़ेगा इस परीक्षा में प्रत्येक को पार होना पड़ेगा ईमानदार मनुष्यों को यह प्रवाह गरम दूध जैसा प्रतीत होगा और पापियों को चमकते अंगारे जैसा लगेगा यह परीक्षा पूर्ण हुए बाद जो लोग जीते रहेंगे वह सब मिलजुल कर रहेंगे और परस्पर स्नेह रखेंगे और वह एक मत से अहुरमझद की प्रशंसा करेंगे अंत में पुण्य की शक्ति का और पाप की शक्ति का अन्तिम युद्ध होगा। अहिमान और उसके दुष्ट सैन्य को पिघलते पत्थर के प्रवाह में फेंक दिया जायगा तब सब दुनिया की शुद्धि होगी और सारा भूमंडल अहुरमझद की सत्ता से व्याप्त होगा और उस समय जो जो होगा वह सब अमर हो जाएगा और दिव्य परिपूर्णता पाएंगे।

अन्तिम न्याय के दिन पुण्यशाली मनुष्य कृत कृत होंगे ऐसा बताया है। यह पारसियों के लिए ही है। पापी मनुष्य

जिनको प्रलयाग्नि में फेंक देना है वह दूसरे सब मनुष्य हैं। अमुक खास हक रखने वाले समाज को ही यह योजना अनुकूल हो सके यह स्पष्ट है इस समाज के बाहर के मनुष्यों को तो यह रुचिकर नहीं हो सके। ऐसा धर्म्म फैल ही नहीं सकता। उसका संकोच होना चाहिए और वह हुआ भी है। उसका द्वंद्ववाद ही उसके विनाश का कारण है।

सप्तम प्रकरण

बौद्ध धर्म्म

बौद्ध धर्म्मसमाज के सिवाय, सब समाज आरंभ में राजकीय थे और वह अपने हित संरक्षणार्थ ईश्वर की पूजा करते थे। इस से यज्ञ की मुख्य धार्म्मिक क्रिया राजा के अथवा अधिकारी वर्ग के हाथ में रहती। इस कक्षा के लोग लड़ाके थे। यह क्रिया यथार्थ रीति पर करने की ज्यूं ज्यूं महत्ता बढती गई त्यूं त्यूं वह अधिकारी वर्ग में से पुरोहित का कर्म्म करने के लिए नियुक्त हुए विभाग के हाथ में जाने लगी। इसी कारण से हिंदुस्थान पर चढाई कर आए हुए आर्य्यों के अधिकारी वर्ग में जातिओं का समावशे हुआ देखने आता है। एक ब्राह्मण अथवा धर्म्मगुरु दूसरे क्षत्रिय अथवा लड़ाके। इस क्षत्रिय जाति में से गौत्तम बुद्ध कि जिस का जन्म ई. स. ५६० के लगभग हुआ था जिसने लगभग ८० वर्ष की

आयु भोगी थी और जिसने ब्राह्मण धर्म्म के विरुद्ध बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया था वह भी अपनी प्रवृत्ति से ऊपर जनाए हुए सिद्धान्त का समर्थन करता है।

जब नए धर्म्म का स्थापित करनेवाला जरथुस्त्र एक धर्म्मगुरु होता है तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं धर्म्म में सुधार कर रहा हूं अथवा तो पुराने धर्म्म का उद्धार करता हूं। जब उस धर्म्म-गुरु के स्थानपर होते हैं तब वह ऐसा मानते है कि 'मैं समाज को उनके देवों का संदेश कहने वाला हूं' परन्तु बुद्ध अपने को न पैगम्बर और न हीं देवता के रूप में मानता था वैसे ही वह ब्राह्मण धर्म्म का सुधारकरने अथवा तो उस धर्म्म के उद्धार करने के लिए नियुक्त किया हो ऐसा भी नहीं मानता था। ब्राह्मण जाति को अथवा किसी एक जाति को उपदेश करने के लिए उसका जन्म नहीं हुआ था। उसका उपदेश कान से सुन सकने वाले सब के लिए था चाहे वह किसी जाति का हो अथवा तो किसी राजकीय समाज का क्यों न हो। जाति-भेद तथा राष्ट्र भेद को उसने माना ही न था इस लिए उसका अपने देश में मान न हुआ इसी लिए उस के बौद्धधर्म्म को भी अपना कार्य्य करने लिए अपनी जन्म भूमि का त्याग करना पड़ा। ऐसा होने पर भी वह धर्म्म कायम रह सका इस पर से इतना प्रतीत हो जाता है कि विश्व व्यापक होने के लिए धर्म्म में जो जो गुण चाहिएं उनमें से कई गुण बौद्ध धर्म्म में विद्यमान् हैं। चीन तथा जापान में पितृ पूजा अथवा शिन्तो

धर्म्म मनुष्य की धर्म्म जिज्ञासा को तृप्त करने में समर्थ नहीं इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी लिए वह भूमि बीज बोए जाने के लिए तय्यार थी परन्तु इस पर से बीज के गुण धर्म्म समझ में नहीं आ सकते यह समझने लिए हमें इतना मानना पड़ेगा कि बौद्ध धर्म्म का बोध व्यवहारिक था और मनुष्यों को लक्ष्य में रख कर किया गया था।

दुःख क्या है? और कैसे उत्पन्न हुआ और मनुष्य उसमें से कैसे छूट सकता है? यह प्रश्न व्यवहारिक है और प्रत्येक के लिए है। जो मनुष्य निवृत्तिपरायण ही हों और प्रवृत्यात्मक वृत्तियों से विमुख हों, वैसे ही उनमें केवल दुःख सहन करने की शक्ति हो और दुःखों के निवारण करने में अशक्त हों तो ही ऊपर के प्रश्नों के संतोषकारक उत्तरसे उनका समाधान हो, और बौद्ध धर्म्म विश्व व्यापक धर्म्म बन सके। जहां केवल यह प्रश्न व्यवहारिक व्यक्तिगत प्रश्न माने गए हैं वहां लोगोंने बौद्ध धर्म्म को स्वीकार किया है। वह हिंदुस्थान के पूर्व भाग में फैला है परन्तु पश्चिम की ओर उसका प्रचार नहीं हो सका। हिंदुस्थान के लोगों की संसार चक्र में अर्थात् पुनर्जन्म में श्रद्धा होने से मनुष्य दुःख में से किस प्रकार मुक्त हो सकता है यह प्रश्न वहां अधिक महत्व पूर्ण माना जाता था। पुनर्जन्म के सिद्धान्तानुसार मृत्यु होने से मनुष्य दुःख में से छूट नहीं सकता कारण कि मनुष्य को पुनःजन्म लेना पड़ता है और जन्म कभी पशु योनि में भी लेना पड़े और

वहां उसे इस जन्म से भी अधिक दुःख भोगना पड़े। इस क्रम का अंत ही नहीं आता और मनुष्य इस प्रकार निरंतर चक्र में फिरता ही रहता है।

इस परसे बुद्धने दुःख में से छूटने का व्यवहारिक प्रश्न उठालिया और इसका निर्णय करने के लिए प्रथम तो उसे देवताओं तथा उनकी पूजा को एक तरफ रखने की ज़रूरत पड़ी। देवताओं का निषेध करने की नहीं परन्तु उनका दुर्लक्ष्य करने की आवश्यकता है। ब्राह्मणोंने देवताओं की पूजा की मुख्य विधिरूप यज्ञों की विधि को हद से अधिक बढ़ा दिया था परन्तु मनुष्यों के दुःख कम नहीं कर सके थे वैसे ही उस ओर विचार भी नहीं किया था; इस से बुद्धदेवने बताया कि देवताओं पर श्रद्धा रखना निरर्थक है और मनुष्य को अपने आप ही मुक्ति मिलनी चाहिए। दुःख से मुक्त होना ही मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य है और वहां पहुंचने का मार्ग भी मनुष्य को ही पार करना है। देवताओं संबंधी विचार करना भी ठीक नहीं।

इस प्रकार बुद्ध का उपदेश केवल अधार्म्मिक है। यदि उसके अनुयायी इस उपदेश को लगे रहते, तो बौद्ध धर्म्म एक धर्म्म के रूप में माना न जाता। देव को न मानो और पूजा न करो इतने में ही उस धर्म्म का समावेश हो जाता परन्तु वास्तव में बौद्ध धर्म्म एक धर्म्म है और उस में देव को मूर्तिमान् देव माना जाता है। बुद्ध की व्यक्ति पर ही सारे बौद्ध

धर्म्म की रचना की गई है और दुःख में से छूटने के लिए अपने शिष्यों का किसी भी देव की उपासना करने की ओर प्रवृत्ति न हो ऐसा उसने प्रयत्न किया है तो भी बौद्ध धर्म्म की उन्नति होने से पूर्व बुद्ध की व्यक्ति को ही औरों से अच्छा माना गया है और आगे चल कर उसे दिव्य माना गया है। इसी विश्वास ने ही बौद्ध संप्रदाय को धर्म्म का स्वरूप दिया है। ऐसी उपासना से ही उसमें से धार्म्मिक बल उत्पन्न होने से वह दुनियां के धर्म्मों में स्थान प्राप्त कर सका है। परन्तु बौद्ध संप्रदाय के विश्वासों में इस प्रकार ईश्वर की भावना जोड़ने से ही हम उसे धर्म्म के रूप में स्वीकार कर सकते हैं अर्थात् एक धर्म्म के रूप में। बौद्ध धर्म्म ऐसे सिद्धान्तों पर रचा हुआ है कि जिसका स्वीकार बुद्धने स्वयं नहीं किया। उसका तथा उसके अनुयाईओं का उद्देश्य तो दुःख से छूटने का ही था परन्तु जब उसने इस उद्देश्य को पार करने के लिए देवों को त्याग देने का उपदेश किया तब उसके अनुयाईओंने अपने अपने अनुभव से ढूंड निकाला कि मनुष्य जाति की आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए देव को छोड़ सकें ऐसा नहीं। बुद्ध की दिव्यता से और पीछे से माने जाने वाले स्वर्ग के देवताओं में उसके अनुयायी श्रद्धा रखते हैं।

इस प्रकार उनका धर्म्म अमुक राजकीय समाज में प्रवेश होने पर नहीं परन्तु केवल श्रद्धा पर ही रचा हुआ होने से वह

संचारक धर्म्म है। बुद्ध को मानने का प्रत्येक को अधिकार है। भ्रातृभाव अर्थात् समवेदना और दया इन दो साधनों द्वारा बौद्ध धर्म्मने मनुष्य जाति को अपने पंथ में मिलाने का प्रयत्न किया है और इस सार्वजनिक बलसे लोगों में बुद्ध धर्म्म का प्रचार हुआ है और सामाजिक धर्म्म की तथा पितृ पूजा जैसे कुल धर्म्म की भावनाओं से वह बिलकुल अलग हो गया है और उसने जादु को तो जड़ से उखाड़ दिया है। कारण कि जहां जहां जादु देखा जाता है वहां वहां मनुष्य की इच्छाएं तृप्त करने में उसका उपयोग देखा जाता है परन्तु बौद्ध धर्म्म का तो मुख्य उद्देश्य ही ऐसा है कि इच्छा मात्र और उसमें जीने की इच्छा भी दुःख का मूल है।

समवेदना और भ्रातृभाव में बौद्ध धर्म्म का संचारक बल भरा हुआ है और उस धर्म्म के अनुयायी इन दो सिद्धांतों को आगे रख कर बुद्ध के सत्य को स्वीकार करने तथा उसके पथ पर चलने का जनसमाज को उपदेश करते हैं। इन दो बातों को स्वीकार करने वाला मनुष्य बौद्धधर्म्म में दाखल हो सकता है। इस प्रकार दिव्य व्यक्ति के साथ मनुष्य का अपना स्वतंत्र संबंध होता है ऐसा बौद्धधर्म्म प्रतिपादन करता है।

यदि बुद्ध के संप्रदाय को चलाने के लिये उसके अनुयाईओंने ईश्वर की भावना को आवश्यक माना है तो भी उन्होंने उसके मुख्य सिद्धान्तों के स्वरूप में परिवर्तन नहीं

किया। दुःख का रोकना और उसके साधन तो निषेधात्मक ही रहे हैं। 'निवृत्त हो' इतने में ही उनका समावेश हो जाता है। किसी भी दिन दुःख न हो ऐसा करना हो तो प्रथम दुःख की उत्पत्ति का कारण ढूंड निकालना चाहिए। दुःख मात्र जीवन की तृष्णा में से उत्पन्न होता है इस लिए इस तृष्णा का अंत होने से ही दुःख का भी अंत हो सकता है और उसी को निर्वाण कहते हैं। बुद्ध के उपदेश का सार इतना ही है। जिस प्रकार सारे महासागर में एक ही लवण रस सर्वत्र देखने में आता है वैसे ही बुद्ध के उपदेश में भी एक निर्वाण रस ही सर्वत्र व्याप्य हो रहा है।

'सर्व दुःखमय है' ऐसा निश्चय कर के बौद्धधर्म्मी अपने सिद्धान्त घड़ते हैं और ऐसा अशुभ दर्शन सर्व देशीय माना है। जीवन में दुःख तथा सुख दोनों देखे जाते हैं ऐसा मानने से वह धर्म्म रुकता नहीं परन्तु वह तो ऐसा सिद्धान्त बताते हैं कि जीवन मात्र ही दुःखमय है और उसमें सुख तो लेशमात्र नहीं। व्याधि वृद्धावस्था और मृत्यु यह तीन ही दुःख स्वरूप नहीं परन्तु जन्म और जीवन भी दुःख स्वरूप ही हैं। चार महासागरों का जल भी यदि मनुष्यों के अश्रुपात के साथ जब कि वह अपना जीवन व्यतीत करते हों, तुलना की जाए तो तुच्छ प्रतीत होता है क्योंकि वह अपने भाग्य में जो पड़ा है उसको रोते हैं, और जिसे वह चाहते हैं वह उनके भाग्य में ही नहीं है।

जिसके विषय में प्रश्न ही न कर सकें ऐसे यह सर्व देशीय अशुभ दर्शन का परिणाम ऐसा हुआ कि बुद्धदेवने जीवन की तृष्णा को दुःख मात्र का मूलरूप माना और संसार में अथवा पुनर्जन्म में रही श्रद्धाने इस सिद्धान्त को पुष्ट किया। इस लिए बुद्ध के संप्रदाय में संसार को कैसा स्वरूप दिया गया है तथा उसका कैसा उपयोग किया गया है इन दो बातों की समझने की ज़रूरत रहती है। वैसे ही दुःख के निवारण के लिय जैसी ईश्वर की धारणा निरुपयोगी और उलटे रस्ते पर ले जाने वाली है वैसा ही तत्वज्ञान भी है ऐसा बुद्ध का पूर्ण विश्वास होने पर भी उसके संप्रदाय में जैसे धार्म्मिक भावना विना चलता नहीं वैसे तत्वज्ञान का आश्रय लिए विना भी चलता नहीं, इस बात की भी साथ साथ समझने की आवश्यकता हैं।

पूर्ण अनुसन्धान करने से हमको यह प्रतीत होता है कि बुद्धने तत्वज्ञान को उड़ा देने का प्रयत्न करते हुए तत्वज्ञान के बदले अध्यात्मज्ञान को मान लिया है। क्षणिक संस्कारों तथा प्रवृत्तिओं का वर्णन उसने अध्यात्मज्ञान में किया है। अध्यात्मज्ञान का बाहर की वस्तुओं से कोई संबंध नहीं परन्तु हमारे संस्कारों के साथ है इस लिए उस अध्यात्मज्ञान में बाह्य जगत् का विचार तक नहीं किया गया। यदि हम ऐसा मानें कि अध्यात्मज्ञान में बाह्यवस्तुओं और बाह्यजगत् की ज़रूरत नहीं रहती तो केवल जिन जिन संस्कारों और जिन

जिन प्रवृत्तियों को अध्यात्मज्ञान में उपयोगी माना गया है उनका विचार करने में ही बौद्धधर्म्म के तत्व दर्शन का समावेश हुआ है ऐसा हमें मानना पड़ेगा। कार्य्य कारण क्रम में यह संस्कार और प्रवृत्ति हमें कार्य्यरूप वैसे ही कारणरूप प्रतीत होती हैं। वह इस जन्म के पूर्व संस्कारों का अथवा पिछले जन्म के संस्कारों का कार्य्य और भावी प्रवृत्तियों का कारण है प्रत्येक कर्म्म का फल मिलता ही है। दुनिया की सब घटनाएं इस नियम को अर्थात् धर्म्म को सिद्ध करती हैं। इस प्रकार बौद्धधर्म्म के अध्यात्मज्ञान का आधार संस्कार और धर्म्म इन दो पर है।

परन्तु बौद्धधर्म्म की मुख्य कल्पना तो वह है जो आत्मा के संबंध में की गई है। इस कल्पना का विचार करने के लिए प्रथम यह समझने की ज़रूरत है कि उस कल्पना में 'मैं हूं' अथवा 'मैं' किसी प्रकार से एक सत्य वस्तु है ऐसी प्रतिज्ञा अथवा ध्वनि नहीं रहती। ऊपर निर्दिष्टानुसार अध्यात्मज्ञान में मात्र क्षणिक संस्कारों और प्रवृत्तियों का ही विचार करना रहता है। यदि ऐसा माना जाय कि अहंकार इन संस्कारों और प्रवृत्तियों के ऊपर नीचे अथवा तो उनसे भिन्न है या ऐसा माना जाय कि 'मैं' यह शब्द इन संस्कारों और प्रवृत्तियों के समुदाय का इकट्ठा ज्ञान कराने वाला शब्द होने के उपरांत वह किसी विशेष अर्थ की सूचना देता है तो इसके उत्तर में नागसेन का, मिलिन्द के राजा को दिया हुआ

रथ का दृष्टांत बस है। रथ पइयों, धुरी और लकड़ी के ढांचे का बना हुआ है। इन भिन्न भिन्न भागों के सिवाय रथ में और कुछ नहीं होता और जिस तरह 'रथ' यह शब्द उसके भिन्न भिन्न भागों का इकठ्ठा ज्ञान कराने के लिए वर्ता जाता है उसी प्रकार 'मैं' यह शब्द भी भिन्न भिन्न संस्कारों और प्रवृत्तियों का इकठ्ठे ज्ञान होने के लिए वर्ता जाता है।

ऊपर निर्दिष्टित बौद्धमतानुसार देह के अन्त के साथ 'मैं' का भी अंत होना चाहिए कारण कि 'मैं' से जिसका ज्ञान होता है उस के आत्मा के संस्कार और प्रवृत्तिएं क्षणिक होने से उनका आरंभ और अंत तत्काल ही होता है; और यह संस्कार और प्रवृत्तिएं भिन्न हों ऐसा आत्मा का अस्तित्व नहीं होता। परन्तु यहां अब तत्वज्ञान की एक कल्पना अथवा युक्ति का आश्रय लेकर इस अध्यात्म ज्ञान के वितर्क को संस्कार चक्र के सिद्धान्त से मिलाया गया है और इससे ही इस अनात्मवाद का और लोकसान्य पुनर्जन्म के सिद्धांत की भी ऐक्यता की गई है। इस में बुद्धने तत्वज्ञान के कर्म के सिद्धान्त का उपयोग किया है। जिन प्रवृत्तियों से मायिक 'मैं' अर्थात् आत्मा बनता है उन प्रवृत्तियों का परिणाम कर्म में होता है और कर्म्म क्षणिक् नहीं परन्तु नित्य हैं। उस मायिक आत्मा का नाश भी पुनः स्थित रहता है और इस प्रकार स्थित रहे हुए कर्म्म में से नई प्रवृत्तिएं जन्म लेती हैं

और नया व्यक्ति उत्पन्न होता है। और जिस कर्म्म से उसके जविन का और प्रारब्ध का निर्णय हुआ है उसी कर्म्म का वह स्वयं क्षणिक् स्वरूप है।

इस प्रकार व्यक्ति का कर्म्म मात्र नित्य और सत्य है। अब इसका जो ऐसा अर्थ किया जावे कि यह कर्म्म करने वाला मात्र माथिक 'मैं' नहीं तो हमें कोई भी कठिनाई न रहे कारण कि कई पाश्चात्य तत्वज्ञों को भी ऐसा स्पष्ट प्रगढ हुआ है कि जिसके जैसे कर्म्म वैसे ही वह पुरुष होता है। इस पर से हम बुद्ध के अध्यात्म ज्ञान से आगे बढ़ कर उसके नैतिक नियमों की ओर जा सकते हैं कारण कि मनुष्य अच्छा और बुरा कर्म्म कर सकता है और वह या तो धर्म्म अथवा अधर्म्म होना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध धर्म्म में नीति का विस्तार बहुत ही बढ़ा दिया गया है। कारण कि मनुष्य के अच्छे बुरे कर्म्म से ही केवल उसका इस जन्म का ही 'कर्म' निश्चित नहीं होता परंतु उसके भावी जन्म का भी होता है और संसार चक्र में फिरते फिरते जहां जहां मनुष्य का जन्म होगा वहां वहां इस जन्म के कर्म्मानुसार उसका भावी कर्म्म भी उसकी नीति और अनीति के नियमानुसार बनेगा ऐसा माना गया है।

प्रथम से ही प्रचलित संसार चक्र की जो लोकमान्य भावना बुद्ध के देखने में आई वह केवल पुनर्जन्म में श्रद्धा के रूप में अस्तित्व रखती थी; परन्तु बुद्ध के किए गए परिवर्तन

से उसमें आत्मा की ज़रूरत ही न रही। 'मैं' यह मायिक है। जिसके जैसे कर्म्म वैसा वह पुरुष होता है और मृत्यु के बाद कर्म्म ही रहता है, और वह कर्म्म संस्कार चक्र में फिरता है। पुनर्जन्म की लोकमान्य भावना में भी संसार चक्र में फिरने के लिए अमुक समय ठहराया नहीं गया था परन्तु बौद्ध सिद्धान्त तो मुक्ति के शुभ समाचार रूप था कारण कि वह संसार चक्र में छूटने की आशा देता था और उसका उपदेश ऐसा था कि जन्म जन्मांतर की प्राप्तिका क्रम अनंत नहीं। बुद्ध का उपदेश ऐसी मान्यता के अनुसार रचा गया था कि अपनी जीवित रहने की इच्छा होने से मनुष्य जीवित रहता है। परन्तु उसका अब का जीवन पूरा होने से कि 'मायिक मैं' का नाश होने से वह संसार चक्र में से बच नहीं सकता। जब तक उसे जीवन की तृष्णा रहती है तब तक उसके अस्तित्व का अंत नहीं आता, उसका कर्म्म उसकी मृत्यु के बाद भी स्थित रहेगा और संसार चक्र का भ्रमण हुआही करेगा।

इस से जो संसार चक्र में से छूटना हो तो उसके लिए केवल तृष्णारूपी अग्नि को बुझाने की ज़रूरत है। भिन्न भिन्न तृष्णाओं को रोकने से कुछ होता नहीं कारण कि तृष्णाएं तो ज्यूं की त्यूं बनी रहती हैं, ठीक तो यह करना है कि सुख तथा जीवन की तृष्णा को बिलकुल निर्मूल किया जाए। जिस अवस्था में तृष्णा शांत नहीं परन्तु निर्मूल हो जाती है उस निर्वाण की अवस्था को प्राप्त करने की बौद्ध उत्कंठा रखते हैं

प्रथम तृष्णाओं को रोका जाता है और इस से बौद्ध धर्म्म के नीतिशास्त्र में ऐसा न करो वैसा न करो कहा गया है। बौद्ध धर्म्म की पांच महाज्ञाओं अर्थात् पांच शील जो भिक्षु तथा गृहस्थों को अवश्य पालने चाहिएं वह इस प्रकार हैं। (१) हिंसा मत करो (२) चोरी मत करो (३) व्यभिचार मत करो (४) असत्य मत बोलो (५) मद्यपान मत करो दूसरी पांच महाज्ञाएं जो केवल भिक्षुओं को ही पालनी हैं वह भी निषेधात्मक हैं।

बौद्ध धर्म्म संयम से आरंभ होता है और निर्वाण तक पहुंचता है। अस्तित्व के अंत को अर्थात् आत्मा के लय को निर्वाण समझना कि नहीं ? इस विषय पर बुद्ध ने स्वयं कोई निर्णय नहीं किया और बौद्ध धर्म्म में सत् और असत्, नित्य और अनित्य, तथा परिमित और अपरिमित इसका निर्णय करने की अथवा इसकी चर्चा करने की मनाही की गई है। बुद्ध की निर्वाण की कल्पना विषय निश्चय पूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि जिस अवस्था में संसार की समाप्ति होती है और पुनर्जन्म नहीं रहता उसे वह निर्वाण मानता है। मनुष्य के भविष्य के संबंध में ऐसा केवल निषेधात्मक निरूपण निरीश्वरवाद की तरह पिछले बौद्ध धर्म्म में निभ नहीं सका। वास्तविक रीतिसे देखने से ऐसी केवल निषेधात्मक वृत्ति को छोड़ देने से ही बौद्ध धर्म्म एक धर्म्म के रूप में माना गया है। इस प्रकार चेतन के लय की अवस्था को नहीं परन्तु आनन्दमय-

जीवन की अवस्था को निर्वाण रूप माना गया है अर्थात् बुद्ध के अनुयाईयोंने अपने अनुभवसे देखा कि आत्मा के अविनाश रूप में और मूर्त देवता में श्रद्धा रखने की जरूरत धर्म्म मात्र में रही है तो भी बुद्ध को स्वयं तो ऐसा लगा था कि जीवन की घटनाएं समझने के लिये अथवा जीवन की बातों का व्यवहारिक व्यवस्था के लिये ऐसा कुछ मानने की जरूरत नहीं रहती।

जीवन दुःख रूप है और इससे कोई भी मनुष्य अथवा दिव्य मूर्ति को सत्य तथा नित्य मानने से जीवन में से छूटने का काम सरल हो नहीं सकता। दूसरी दृष्टि से विचार करें तो आत्मा का निषेध करने से कोई भी अस्तित्व नहीं रह सकता और अस्तित्व न रहने से उसमें से छूटने का मार्ग भी कोई ले नहीं सकता। इसी से ऐसा माना गया है कि 'मैं' यह मायिक अस्तित्व का बोधक शब्द है और इस परसे ही ऐसी कठिनाई उत्पन्न होती है कि जो 'मैं' का अस्तित्व नहीं तो अस्तित्व में से छूटने का मार्ग किस तरह ले सकें।

यद्यपि मनुष्य और दिव्य व्यक्तिओं के संबंध में बुद्ध के निषेधात्मक विचारों का अनादर करने की उस के अनुयाईयों का कर्तव्य हो गया था तो भी दूसरी बातों में तो बुद्ध धर्म्म बिलकुल निषेधात्मक हो रहा है। मात्र सुख और दुःख की ही नहीं परन्तु शुभ और अशुभ की भी जिसमें

अत्यंत उपेक्षा की जाती है ऐसे आत्मा की परम शांति को बौद्ध धर्म्म में नीति का परमपद माना है इस लिए बौद्ध धर्म्म में समवेदना और भ्रातृभाव यह अत्यंत उपेक्षा की समान कोटि में आकर शिथिल हो जाते हैं। अपने प्यारे बालक की मृत्यु से विलाप करती माता को गौतमने सिर्फ इतना कहकर शान्ति दी थी कि ऐ माता तू घरघर फिर कर देखो कोई भी घर सगे संबंधियों के मरने से शोक विना नहीं । मरे हुओं की संख्या बहुत है और जीवितों की संख्या थोड़ी है " कर्म का स्त्रियों का और जीवन की सर्व प्रवृत्तिओं का तिरस्कार करने का बौद्ध धर्म्म के साधुओं का रुख होता है । बौद्ध धर्म का उद्देश मनुष्य को जीवन में प्रवृत्त करने का नहीं परन्तु जीवन प्रवृत्ति में से मुक्त करने का है । प्रत्येक मनुष्य का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि उसे अपने मोक्षसिद्ध करने के लिए संसार में से निवृत्त हो । मनुष्यों का अपना स्वार्थ सिद्ध हो इस लिए दुनिया में धार्मिक संस्था होती है और परलोक में ऐसी संस्था बिलकुल नहीं हो सकती ।

अष्टम प्रकरण

एकेश्वर वाद

साधारण रीति से हम कह सकेंगे कि आधुनिक उन्नत प्रजाएं एकेश्वरवाद के मानने वाली हैं, अनेक देव वाद तो बहुत करके उन्नत प्रजाओं में नहीं देखा

जाता तथा अवनत और जंगली प्रजाएं भूत प्रेत राक्षस आदि को मानती हैं और हम यह भी कह सकेंगे कि एकेश्वर वाद तथा अनेक देव वाद के प्रचार होने से पूर्व मनुष्य देव भूत प्रेतादि की पूजा करते थे ऐसा धर्म्म के भिन्न भिन्न रूपान्तरों के इतिहास से मालूम पड़ता है। इस प्रकार पूजा किए जाने वाले देव भूत प्रेतादि के आरंभ में नाम न रखे गए थे। कुछ समय के बाद जिन जिन पदार्थों में उनका आविर्भाव माना जाता, उन उन पदार्थों के नाम उन्हें दिए जाते, उदाहरणार्थ सूर्य्य चंद्र द्यौ मरुत् वनस्पति और प्राणी। अन्त में जब उनके नाम भूल गए और अर्थ ज्ञान नष्ट हुआ तब यह नाम विशेष नाम के रूप में माने जाने लगे और उनसे पदार्थों का नहीं परन्तु केवल अमुक मूर्त्ति ही का बोध होने लगा।

इस पर से हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि धर्म्म रूपी मंदिर तिमंजला है। और कई लोग भूत प्रेतादि की पूजा रूपी प्रथम मंजिल को बांधकर रुक कर ही रह गए हैं। बहुतों ने तो अनेक देवता रूपी दूसरी मंजिल बांधी है और थोड़ोने एकेश्वरवाद रूपी तिसरी मंजिल बांधकर उस मंदिर को पूर्ण किया।

इस अनुमान के विरुद्ध ऐसा भी वितर्क हो सकता है कि मनुष्य प्रथम एक ही ईश्वर को मानते थे और इस विश्वास से गिरकर वह अनेक देववाद को तथा देव-भूत प्रेत राक्षसादि को मानने लगे। इस वितर्क का परिणामवाद

के साथ विरोध नहीं होता, कारण कि क्रम से वृद्धि ही होनी चाहिए ऐसा परिणामवाद का अर्थ नहीं । मनुष्य के दृष्टि केन्द्र से अथवा उसके नियम से प्रत्येक परिवर्तन मूल पदार्थ के परिणाम के क्रम की अमुक अवस्था रूप है अथवा अवनति रूप है ऐसा वह नहीं मानता ।

भूतकाल में धार्मिक विश्वास में हुए हुए परिवर्तन शायद एक ही समय परिणाम क्रम की अवस्था रूप तथा एकेश्वर वाद को ही मानते थे यह बात सिद्ध करने के लिए यह भी कार्य्य से कारण का अनुमान करने से इस वितर्क को हम एक तरफ रख सकते हैं। कार्य्य से कारण का अनुमान करने के नियम को यदि हम स्वीकार करेंगे तो भी धर्म्मों के इतिहास का उससे विरोध होता है। धर्म्मों के इतिहास में प्रगट घटनाओं तथा सिद्ध बातों से हमारे अनुमानों का समावेश हो सकता है। अब हमें इतना ही देखना है कि उसमें जो जो बातें स्वीकार की गई हैं अथवा वर्णन की गई हैं उनमें प्राचीन काल में मनुष्य एकेश्वरवाद को मानते थे ऐसी सूचना करने वाला कोई भी विषय मिलता है कि नहीं ।

नीच जातियों में भी बड़े देवता माने जाते थे इस विषय की पुष्टि में तथा और कई बातों के लिए धार्म्मिक विज्ञान मि. एन्ड्रयूलैंग का कृतज्ञ है। नाम विना के भूत प्रेत राक्षस इत्यादि की उपासना से आगे अवनत जंगली मनुष्यों में भी

बड़े ऐश्वर्य्य वाले अमुक अमुक नाम के देवता माने जाते थे तथा उनकी पूजा को महत्व दिया जाता था ऐसा मि. लैंगने सिद्ध किया है। प्राचीन धर्म्मप्रचारकों के अथवा संशोधकों के सहवास से ऐसे बड़े देवताओं की भावना उनमें प्रविष्ट हुई है ऐसे वितर्क का मि. लैंगने संतोषकारक रीति से खंडन किया है। इस लिए यह भावना उनकी अपनी ही हो ऐसा हम निःशंक मान कर आगे चलेंगे।

अब इस पर से हम यथार्थ रीति में क्या अनुमान कर सकते हैं? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। जंगली लोग बड़े देवताओं को मानते थे ऐसा साबित करने वाले मि. लैंग भी किसी स्थल पर नहीं सूचित करते। वह लोग एकेश्वरवादी थे ऐसा बड़े देवता—सब पिता—जैसे कि 'दर मुलुन' बेइयामई और टवोन्यिनिका के मानने वाले आस्ट्रेलिया के आदि रहवासी निश्चित रूप से अद्वैतवादी नहीं। एनिएम्बे के मानने वाले पश्चिम अफ्रीका निवासी अनेक देववादी हैं वैसे ही उनकुतुन्कुलू एक ही जुलुओं का देव नहीं। इन बड़े देवताओं का अनेक देववाद की रचनामें अथवा भूत प्रेत राक्षस इत्यादि के समूह में समावेश नहीं होता परन्तु इनके साथ साथ ही उन देवों की पूजा की जाती है तब ऐसे सान्निध्य पर से क्या अनुमान हो सकता है? इसमें ऐसा भी हो सकता है कि ऐसे बड़े देवों की पूजा परापूर्व से चली आ रही हो। उनके नाम दिए हुए होने से इतना तो सिद्ध होता है कि वह

प्राचीन देव हैं और इसके अतिरिक्त यह भी कल्पना कर सकते हैं कि जिस काल में मनुष्य एक ही ईश्वर को मानते होंगे उसी समय के यह देव होंगे और उसी समय से चलकर आजतक स्थिर रहे होंगे। परन्तु ऐसी कल्पना के विरुद्ध कितनीही बातें हैं जिनका हमें विचार करना पड़ता है।

प्रथम तो हमें यही विचित्र प्रतीत होगा कि आफ्रिका के रहवासी हबशी, आस्ट्रेलिया के काले आदमी और पेन्टेगोनिया के बीसवीं सदी तक प्राचीन एकेश्वरवाद की स्मृति रख सके और तीन चार हजार वर्ष के पूर्व युरोपीय प्रजाओं के पूर्वजों के मनमें उसकी स्मृति ही न रही।

दूसरी बात यह है कि यह सब पितर अथवा बड़े देवताओं की पूजा नहीं कीजाती और उसके निकट के दूसरे अनेक देवों तथा भूत प्रेतादि की पूजा की जाती है। इस परसे यदि हम एसा मानें कि आधुनिक समय जैसे प्राचीन काल में भी ऐसे देवताओं की पूजा नहीं की जातीथी तो हमें ऐसे सिद्धांत पर आना पड़ेगा कि प्राचीन एकेश्वरवाद के देव की पूजा करने वाले न थे तथा दूसरी ओर हम ऐसा भी मानते हैं कि मनुष्य जिसकी पूजा करें उसे ही देव कहा जाय तो हमें ऐसे निर्णय पर आना पड़ेगा कि एक समय इन बड़े देवों की पूजा की जातीथी और अब वह बंद हो गई है। ऐसे बड़े देवताओंकी मनुष्यों के अभ्युदय निःश्रेयस में भाग नहीं ले सकने से

उनकी किसी भी समय पूजा नहीं की जातीथी। ऐसा पश्चिमीय आफ्रिकावासियों का निर्णय हम स्वीकार नहीं कर सकते।

एक समय ऐसे बड़े देवों की भी पूजा की जातीथी ऐसा मानें तो उसका धार्म्मिक इतिहास के साथ विरोध नहीं हो। अब हमें केवल इतिहासमें से ही ऐसे दृष्टान्त ढूंढ निकालने पडेगें, कि जिसमें अमुक देवता को प्रथम अनेक देववाद के देवों मे गिना जाता हो, और पीछे से उसे व्यवहारिक धर्म्म में से निकालकर उसकी पूजा बंदकी, उसके नाम को ही देवताके रूपमें माना जाता हो। ऐसा ही एक दृष्टांत वेद में से मिलता है। बड़े प्रभाव वाले " द्यौः पितर " का वेदमें केवल सामान्य वर्णन किया गया है। पश्चिम आफ्रिका के लोगों के ' अनिएम्बे ' की तरह वह कुछ करता नहीं, तथा उसकी पूजा भी नहीं की जाती। वह एक ही नामका देव रहता है और उसकी पूजा बंद होने के पीछे उसके जैसे दूसरे देवकी पूजा की जाती है। दूसरे बड़े देवकी तरह भी उसे माना जाता है। प्राचीन छोटे देव और एसे बड़े देवों में इतना ही फरक है कि छोटे देवों का देवत्व भी नष्ट हो गया है और बड़े देव उतने अंश में भी स्थित रहे हैं। जहां एक धर्म्म का दूसरे धर्म्म से पराजय हुआ है वहां ऐसे छोटे देवों को बड़े देवों की तरह माना गया है। ऐसा ईरान में हुआ है। और वहां प्राचीन धर्म्म के देवताओं को अवस्ता में ' दएव ' अर्थात् भूतप्रेत पिशाच राक्षसादि के रूप में वर्णन किया गया है।

धार्म्मिक विकास क्रममें तथा शारीरिक घटनाओं के विकासक्रम में कितने अवयव नष्ट होते हैं और कितने टिके रहते हैं। इस नियमानुसार किसी किसी जगह मिलने वाले बड़े देवताओं के विषय में भी हुआ होगा ऐसा हम कह सकेंगे। प्राचीन काल में एकेश्वरवाद माना जाता था ऐसा अनुमान करने की अपेक्षा इस प्रकार मानना अधिक ठीक है।

बीसवीं शताब्दि तक अशिक्षित प्रजाने ऐसे बड़े देवताओं के विश्वास रूप एकेश्वरवाद को किसी अंश में भी प्रचलित रखा है और हिंदु तथा युरोपीय प्रजाओं में तो हज़ारों वर्ष से उसका नाम निशान भी नहीं रहा। ऐसा अनुमान करने में बड़े देवों का कुछ उपयोग नहीं होता ऐसे निर्णय पर हम आएं तो भी याहूदी धर्म्म के स्वरूप पर कितनी असर होती है इसका विचार करना बाकी रहता है। तुलनात्मक धर्म्म विचार की दृष्टि से विचार करने पर याहूदियों का धर्म्म दूसरे धर्म्मों से बिलकुल अलग हो जाता है और किसी भी विषय में वह धर्म्म के साथ मिलता नहीं ऐसा हमसे माना ही नहीं जा सकता; वैसे ही वह दूसरे धर्म्मों जैसा ही है और उसमें कुछ विशेष शिक्षा ग्रहण करने लायक नहीं ऐसा भी मान कर बैठ नहीं सकते। सब वृक्षों के पेड़ शाखा और पत्ते होने पर भी वह एक दूसरे से भिन्न होते हैं, एक जाति दूसरी जाति से मिलती है ऐसा कहने से ही उन दो जातिओं के बीच का स्थिर भेद सिद्ध होता है। किन्हीं भी दो वस्तुओं की तुलना करने से उनकी समता

यद्यपि मालूम पड़ जाती है तो भी उस समता से उनका भेद खुल जाता है। पत्ते तो पत्ते ही हैं एक परन्तु वृक्ष के पत्तों से दूसरे वृक्ष के पत्ते भिन्न ही होते हैं। हमें तो कारण के बीच का भेद अधिकाधिक सूक्ष्म प्रतीत होगा यह ठीक है पर विज्ञान शास्त्र में ऐसा विश्वास होने लगा है कि सब पदार्थों का आदिकारण रूप परमाणुओं की रचना भी बराबर हो यह संभव नहीं कारण कि एक ही प्रकार के कारणों में से भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते।

इस प्रकार होने से हम आशा रख सकते हैं कि मूसा के पूर्व याहूदी धर्म्म के कितने विषय दूसरे धर्म्मों से मिलते होंगे और उस में से कई भिन्न विषय भी मालूम हो जाएंगे। सब प्राचीन प्रजाओं की तरह यज्ञ क्रिया को याहूदी अपनी मुख्य धार्म्मिक क्रिया के रूप मानते थे, अर्थात् यह बात दूसरे धर्म्मों से मिलती है। इस यज्ञ से वह समाज के देवता की पूजा करते और दूसरी सब जगह जैसा किया जाता उसी प्रकार यह क्रिया याहूदिओं में भी समाज के नेता द्वारा होती थी। देवता समाज की आपत्तियों से रक्षा करते हैं तथा उनका अपराध होता है तब आपत्तिएं पड़ने देते हैं ऐसा वह मानते। इस प्रकार समाज में जो आचार पालने का रिवाज प्रचलित है वह देवता की इच्छानुसार है तथा जिन अपराधों को समाज दंडनीय समझता वह अपराध देवता के अनुकूल नहीं ऐसा वह मानते। मूसा के पूर्व के याहूदी दूसरे लोगों की तरह ऐसा भी मानते कि व्यक्ति के अस्तित्व का

अंत मृत्यु से नहीं आता। ऐशिया और आफ्रिका की कितनी जातियों में तथा मध्य अमेरिका मलाया द्वीप न्यु हेब्रिडीज़ और आस्ट्रेलिया की कितनी जातियों में देखा जाने वाला सुन्नत का रिवाज प्राचीन काल से याहूदिओं में प्रचलित था।

याहूदी धर्म्म के विकासक्रम की जिस अवस्था में यह यह रिवाज अनिवार्य्य माना जाता था और याहूदी जाति का चिन्ह रूप माना जाता था उस समय विकासक्रम की उसी अवस्था में रही हुई दूसरी जातियों की तरह दूसरे रिवाज भी याहूदी धर्म्म में प्रचलित होंगे ऐसा हम मान सकेंगे। याहूदी समाज का जो देवता रक्षण करता था और जिसकी याहूदी यज्ञ से पूजा करते थे उस देव का नाम रखे जाने के पूर्व ही अर्थात् 'यहोवाह' नाम अस्तित्व में आया उसके पूर्व समय से ही सुन्नत का रिवाज प्रचलित है ऐसी कल्पना हम स्थिर करेगें।

अब जो हम तुलनात्मक पद्धति से याहूदी धर्म्म की सेमेटिक प्रजा की दूसरी शाखाओं का धर्म्म के साथ मुकाबला करेंगे तो हमें प्रतीत होगा कि इस में की एक शाखा फिनी-श्यन अनेक देववादी होने पर भी प्राचीन पद्धति पर आरूढ़ रहने से देवता का विशेष नाम न रखने से सामान्य नाम ही रखते थे। सामान्य रीति से फिनीश्यन अपने देवताओं का 'बे आल' अर्थात् प्रयुक्त वर्ग का तथा भूमि का पति और दोनों का रक्षक कहते। फिनीश्यनों की सब जातिएं अपने

देव को 'बे' आल कहतीं और उसकी पूजा करतीं। वैसे प्रत्येक 'बे आल' को पहचानने के लिए उस के साथ उस जाति का नाम जोड़ दिया जाता। उदाहरणार्थ 'टायर का बे आल' 'सीडन का बे आल' 'या टारसस का बे आल' और जिस जाति अथवा भूमि का वह अधिपति माना जाता उसी पर उस बे आल का अधिकार भी माना जाता। जब फिनी-श्यनों में विशेष नाम रखने वाले देवताओं की पूजा प्रचलित हुई तब भी 'बे' आल को परम देव के रूप में ही मानते इस पर से यह अनुमान हो सकता है कि 'बे' आल सब से प्राचीन देव होने से पीछे के समय में भी वह परम देव के रूप में गिना गया है और प्रथम प्रत्येक जाति अपने इष्ट देव को अमुक मूर्तिमान् देव के रूप में नहीं परन्तु 'बे आल' अर्थात् अधिपति के रूप में मानती थी।

अपनी भूमि और अपने मालिक 'बे आल' की पूजा करने वाले फिनीश्यन केनेनाइट और सीरिया के लोग ऐसे नाम रहित देवों की पूजा से आगे बढ़ कर किस प्रकार अनेक देव वादी हुए यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। सेमेटिक धर्म्म उपरांत दूसरे धर्म्मों में भी इन्हीं कारणों के लिए ऐसे परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन इटली के धर्म्म में कई मूर्तिमान् और कई अंश में मनुष्य के गुण धर्म्म वाले 'न्यूमिना' को केवल थोड़े ही समय के बाद पुरुष और स्त्री के युग्ल रूप माना गया है। परन्तु उनके स्वरूप का संपूर्ण निर्णय नहीं

होने से उनका एक दूसरे के साथ का संबंध नहीं घड़ा गया है। उनके अमुक कुटुम्ब हैं अथवा तो उनका एक समाज है ऐसी कल्पना नहीं की गई और यद्यपि इन दिव्य युगलों को माता पिता के रूप में माना जाता था तो भी प्रत्येक युगल के स्त्री पुरुष दांपत्य संबंध से जुड़े हुए थे ऐसा वह नहीं मानते थे। ऐसे 'न्यूमिना' पर ही उनकी रक्षा तथा पशु और प्रजा वृद्धि का आधार था। इस प्रकार और इन्हीं कारणों के लिए फिनीश्यन भी अपने देवको बे आल अर्थात् स्वामी और बे आलेट अर्थात् स्वामिनी के युगल रूप मान कर पूजा करते थे। प्रथम बैबिलोनिया और असीरिया में और पीछे से सब प्राचीन प्रजा में 'एस्टार्टे' अथवा 'ईश्वर' के नाम से पूजा की जाने वाली 'बे आलेट' की महिमा बहुत बढ़ गई।

दो भिन्न नामों के दो भिन्न पदार्थ होने चाहिएं ऐसा मनुष्य स्वाभाविक ही मानने को तय्यार होता है। विशेष नाम रहित देव को माननेवाले फिनीश्यन इत्यादि पीछे से अनेक देवों को मानने लग पड़े। इसका यह दूसरा कारण है। साधारण रीति से 'बे आल' की रीति में पूजे जाने वाले देव को वह अपने मालिक तथा राजा के रूप में मानते। सब धर्मों में अन्त में ऐसे कुल देवताओं को उनके भिन्न भिन्न विशेषणों से भिन्न भिन्न देवों की तरह कल्पना करने की लगन देखने में आती है। इस पर से हम सचमुच अनुमान् कर सकते हैं कि प्रथम 'ऐडोन' अर्थात् शेठ और मलेक अर्थात्

राजा यह दो शब्द केवल ' बे आल ' के पर्यायवाचक ही वर्ते गए थे और पीछे से वह कुल देवता के अर्थ में वर्ते जाने लगे और अन्त में दो भिन्न भिन्न देवों के नाम रूप वह माने जाने लगे ।

सेमेटिक जाति की दूसरी प्रजाओं और याहूदिओं के बीच इतना फरक है कि याहूदी अपने देव के साथ लगे हुए थे और उस देव को वह बे आल, बेआलेटके रूप में मानते न थे तथा उन्होंने अपने देव के भिन्न भिन्न नाम डालकर उन सब नामों का भिन्न भिन्न कुल देवताओं की कल्पना करने लगे थे । दूसरी प्रजाओं के देवों की तरह उनका देव भी प्रथम नाम रहित था । पीछे से उसका नाम ' यहो वाह ' डालने में आया और इस से वह दूसरी सेमेटिक प्रजाओं से अलग पड़े । साधारण नियम ऐसा है कि दो पदार्थों का भेद ढूंड निकालना यह उन दो पदार्थों की तुलना हो सके ऐसा है, ऐसा मान लेने के बराबर ही है । यहां यह भी हमें मान लेना चाहिए कि यहो वाह दूसरी सेमेटिक प्रजाओं के देव जैसे एक देव माना जाता था और वह सर्वोपारि देव था ऐसा कहें तो भी दूसरे देव थे ऐसा हमें मानना पड़ता है । इस से अन्त में अपने को ऐसा मानना न पड़े इस लिए याहूदिओंने दूसरे की तरफ तिरस्कार दृष्टि से देख कर ऐसा प्रगट किया कि हमारा देव ही एक देव और दूसरों के देव पुतले ही हैं । यह होने पर भी याहूदिओं का ऐसा ही दृढ़

विश्वास न था कि ' यहो वाह याहूदिओं का ही देव है और याहूदी ही उसकी प्रजा हैं । ऐसा धर्म्म संकुचित रहा है और ' अहुर मझद ' की तरह ' यहो वाह ' की पूजा सर्वत्र फैल नहीं सकी । अपने देव का नाम यहोवाह रख कर उसकी वह पूजा करते थे उनका धर्म्म सार्वजनिक धर्म्म होने का आवश्यक बल प्राप्त नहीं कर सका । जिस देव का अमुक नाम रखा जाता है वह देव अमुक वर्ग का ही देव हो रहता है और दूसरे देवों की तरह उसे माना जाता है इस प्रकार अनेक देव-वाद को स्वीकार किया जाता है और अनेकेश्वरवाद संपूर्ण रीति से वृद्धि नहीं पासकता ।

तब यदि हम यहोवाह की पूजा को एकेश्वरवाद का अंश रूप मानें तो उससे प्रथम के पूजा के प्रकार को हमें एकेश्वरवाद के अल्पांश रूप में मानना पड़ेगा । प्रथम समाज तरफ से की जानेवाली पूजा का ऐसा प्रकार था कि उस समय देवका विशेष नाम नहीं डाला गया था परन्तु उसे फिर फिनीश्यनों की तरह ' मालिक ' अथवा प्राचीन इजिप्ट की तरह ' पश्चिम का निवासी ' (चेन्टेमेन्टेट) ऐसे सामान्य नामों से बुलाया जाता । जबतक समाज के देवका विशेष नाम नहीं डाला जाता था तबतक वह देव कर सकें ऐसा सब कार्य्य करने के समर्थ माने जाते थे । यह बांत बताने का प्रयोजन इतना ही है कि सब देवों के नाम पीछे से ही डाले गये होने से आरंभ में अनेक देववाद माना जाता होगा वा एकेश्वरवाद माना जाता होगा उसके संबंध में कोई प्रश्न रहता ही नहीं ।

धर्म्मरूपी मंदिर की अलौकिक व्यक्तिओं की पूजारूपी प्रथम मंज़िल बांधी गई थी और पीछे कई लोगोंने अनेक देव-वादरूपी दूसरी मंज़िल बांधी और फिर कईयोंने एकेश्वरवाद रूपी तीसरी मंज़िल बांध कर मकान को पूरा किया। ऐसे दृष्टांत से हम उलटे मार्ग पर चले जाएं यह संभव है इस लिये हम मनुष्यों के उनके देवताओं के संबंध के विषय में अर्थात् धर्म्म विषय ऐसी कल्पना करेंगे कि आरंभ में समाज के तथा एक अलौकिक व्यक्ति के संबंध को धर्म्म ऐसा नाम दिया गया था। यह अस्पष्ट रीति से कल्पना की गई कि अलौकिक व्यक्तियों को आरंभ में प्रत्येक समाज मानता था ऐसा हमें जिस पर से मानना पड़े ऐसी बात भी धार्म्मिक इतिहास में नहीं मिलती। अतिशय धार्म्मिक याहूदी प्रजा के दृष्टान्त पर से हम देख सकते हैं कि धार्म्मिक विकास क्रम में एक ही नाम रहित अलौकिक व्यक्ति को मानना यह पहली सीढ़ी है। दूसरी तरफ एक ही देव को उसके भिन्न भिन्न विशेषणों के कारण भिन्न भिन्न देवों के रूप में मानने की कल्पना एकदम नहीं परन्तु क्रमशः प्रवेश होती गई है। जैसे भी हो तो भी धार्म्मिक विकास क्रम की ऐसी अवनत अवस्था को अनेक देववाद अथवा एकेश्वरवाद कहने से उलटे रस्ते चले जाने की संभावना है। हम इतना ही कह सकते हैं कि जिसमें से अनेक देववाद या एकेश्वरवाद उत्पन्न हो सके वैसी यह अवस्था थी। हम इतना भी कह सकते हैं और ऐसा बनना संभव है ऐसा

मान भी सकतें हैं, कि आरंभ से ही अनेक देववाद तथा एकेश्वरवाद के उद्भव होने का क्रम भिन्न भिन्न हो गया था।

देव शब्द के अर्थ में उसके पूजकों का भी समावेश हो जाता है कारण कि जिसकी पूजा करने वाले होते हैं उसी को देव कहते हैं सारी दुनियां का एक ही ईश्वर है ऐसा मानने वाला एकेश्वरवादी ईसाई की दृष्टि में ऐसा आता है कि (१) सत्य और अलौकिक व्यक्ति की पूजा करने वाले सब मनुष्यों ने ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञान से एकही ईश्वर की पूजा की हुई है और (२) जिस ईश्वर की उन्हों ने अज्ञान से खोज की है उस ईश्वर को उन्होंने अभी तक पहचाना ही नहीं या तो उसकी उन्होंने असत्य कल्पना ही की है। इस दृष्टि-बिंदु से सब मनुष्य यद्यपि वास्तविक रीतिपर नहीं तथापि संभवित रीति से एक ही ईश्वर की पूजा करने वाले सिद्ध होते हैं। एकेश्वरवादी अपने ईश्वर को मनुष्य मात्र के ईश्वर के रूप में मानते हैं और मनुष्य जाति में कितने उसकी पूजा करने वाले होते हैं और बाकी के उसकी पूजा करने वाले हों ऐसी संभावना होती है ऐसा वह मानते हैं, और ऐसे संभवित पूजा करने वालों को वास्तविक पूजा करने वाले बनाने का काम एक संचारक धर्म्म के रूप में ईसाई धर्म्मने ले लिया है।

ज्यूं ज्यूं एकेश्वरवादी धर्म्म का विकास होता जाता है त्यूं त्यूं प्रथम संकुचित पूजा करने वालों की समाज की

कल्पना का भी विस्तार बढ़ता जाता है। सब से प्राचीन एकेश्वरवादी याहूदी धर्म्म में ऐसा माना जाता था कि उनकी जाति के मनुष्य ही अपने ईश्वर की पूजा करने वाले हैं। ऐसा ही विश्वास इस्लाम धर्म्म में भी था इस लिए इन दोनों में से एक भी धर्म्म को सर्वांश में एकेश्वरवादी नहीं माना जा सकता। यद्यपि दोनों धर्म्मों में एक ही ईश्वर को माना जाता है तथापि परधर्म्मियों को अपने धर्म्म में लानेका एक का भी उद्देश्य नहीं। लोगों की यह भूल है कि विजयी मुसलमान पराजित प्रजा को मृत्यु दंड देने के बदले मुसलमान धर्म्म स्वीकार करने का अवसर देते हैं। ठीक बात तो यह है कि मुसलमानों के धर्म्म युद्ध का उद्देश्य दूसरी राजकीय सत्ताओं को तोड़ गिरा कर अपनी सत्ता स्थित करने का होता है। परधर्म्मियों को बदलाकर अपने धर्म्म में लेना यह उनका मुख्य उद्देश्य नहीं होता। पराजित मनुष्यों को मुसलमान होना कि नहीं इसका आधार उनकी अपनी इच्छापर रहता है। विजय पाने वाले को इसका आग्रह नहीं होता। वह तो उलटा इसको रोकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को ईसाई बनाने का प्रयत्न करना यह ईसाई धर्म्म का खास लक्षण है। ऊपर बताए हुए दो धर्म्मों से ईसाई धर्म्म मनुष्य की व्यक्ति को बहुत ही भिन्नस्वरूप में देखते हैं। याहूदी ऐसा मानते हैं कि यहोवाह याहूदियों का ही ईश्वर है और खुद ही उसकी प्रजा है। ऐसा विश्वास होने

से उनके धर्म्म में मनुष्य व्यक्ति का ईश्वर के साथ संबंध जोड़ने का हक नहीं रहता। धर्म्म में एक व्यक्ति के रूप में उन्हें स्थान नहीं। उनकी यज्ञक्रिया भी सब समाज तरफ से ही की जाती थी। समाज की व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार न था इस से वह क्रिया मनुष्य व्यक्ति के स्वतंत्र धर्म्म के अंतर रूप थी।

इस्लाम धर्म्म में ऐसा भेद न था उस में यज्ञ नहीं किया जाता और माना जाता। यज्ञ के बदले ईश्वर की स्तुति की जाती है। ईसाई धर्म्म में जैसा स्तुति का अर्थ किया जाता है वैसा ही अर्थ इस में भी किया जाता तो मनुष्य व्यक्ति के धार्म्मिक स्वातंत्र्य विषय इन दो धर्म्मों में बहुत मत भेद न रहता। परन्तु इस्लाम धर्म्म में स्तुति की सफलता का आधार स्तुति करने वाले की मनोवृत्ति पर नहीं परन्तु जो विधिपूर्वक वह की जानी चाहिए उस विधि के यथार्थ परिपालन पर है। इस स्तुति का उद्देश्य ईश्वर के गुण गाने तथा उसे धन्यवाद देने का होता है। मनुष्य व्यक्ति को अपनी लालसा में से और पाप कर्म्मों में से बचने के लिए उसमें प्रार्थना नहीं की जाती परन्तु इस्लाम समाज को आपत्तिओं से मुक्त करने के लिए प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार इस्लाम धर्म्म में भी दूसरे धर्म्मों की तरहईश्वर की उपासना को समाज का कर्त्तव्यरूप माना गया है। ईश्वर की उपासना करने के लिए उपासक का ईश्वर के के साथ स्वतंत्र संबंध होने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

' अल्ला. ' सब मनुष्यों पर प्रेम करता है तथा उनकी रक्षा करता है ऐसी भावना का वह उस धर्म्म में अभाव ही देखने में आता है। इस्लाम धर्म्म न मानने वाले सब लोग अल्ला के और उसके उपासकों के शत्रु हैं और उनका विनाश करने के लिए धर्म्मयुद्ध चलाने की प्रत्येक आस्तिक मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है ऐसा उस धर्म्म का विश्वास है।

अपने राजकीय सभाज में प्रवेश हुए विना कोई भी मनुष्य अपने धर्म्म का नहीं हो सकता ऐसा विश्वास जिस धर्म्म में देखा जाता है उस धर्म्म में मनुष्य व्यक्ति का गौरव बहुत कम माना जाता है। वहां अपनी समाज से बाहर के मनुष्यों का तिरस्कार किया जाता है और प्रसंग आने पर भी मनुष्य रूप में मान कर उन के मान की रक्षा नहीं की जाती और उन्हें दया का पात्र नहीं माना जाता। अपने समाज के मनुष्यों को भी स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में नहीं लिखा जाता परन्तु समाज का हित साधने के साधन रूप माने जाते हैं। याहूदी धर्म्म में वैसे ही इस्लाम धर्म्म में इस प्रकार अपने समाज के तथा समाज से बाहर के मनुष्यों की व्यक्तियों का बहुत कम मान किया गया है। इसी लिए उनमें एकेश्वर वाद का संपूर्ण विकास नहीं हुआ मालूम पड़ता है। मूर्तिमान् ईश्वर पर एक मनुष्य व्यक्ति की श्रद्धा रूप एकेश्वर वाद मुख्य तया मनुष्य व्यक्ति का धर्म्म है इस लिये उसके विकास क्रम में मनुष्य की तथा उसके ईश्वर की व्यक्ति अधिकाधिक

स्पष्ट होती जाती है । मनुष्य व्यक्ति को गिराने वाले सब विषय इस क्रम में आपत्ति जनक होते हैं। राजकीय समाज के हित की वृद्धि के लिये जो धर्म्म उत्पन्न हुए हैं उसमें मनुष्य व्यक्ति का मूल्य कम ही लगाया गया होता है और इस लिये दिव्य व्यक्ति की कल्पना भी उसमें उच्च हो नहीं सकती। जहां दिव्य शक्ति की उच्च से उच्च कल्पना की जाती है वहीं मनुष्य मात्र व्यक्ति का भी योग्य मूल्य लगाया जाता है और पश्चात्ताप करने वाला एक भी अपराधी का प्राण बचता है तो उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती। जहां व्यक्ति से स्वतंत्र धर्म्म की भावना उन्नति पर होती है वहां भी ऐसा देखने में आता है । परन्तु जहां एकेश्वरवाद का संपूर्ण विकास नहीं हुआ होता वहां मनुष्य शक्ति की कीमत बराबर नहीं लगाई जाती ऐसा नहीं होता।

जिन धर्म्मों में यज्ञ को ही मुख्य धार्मिक क्रिया के रूप में माना जाता है वहां समाज के ही हित के लिये यज्ञ किये जाते हैं और इनका उद्देश्य समाजकी आफतें दूर करना तथा समाज की समृद्धि के रक्षण करनेका होता है। ऐसा होने पर देवताओं को भी समाज के मनुष्यों की तरह अपनी इष्ट सिद्धि के साधन रूप समाज मानता है। याहूदियों के एकेश्वरवाद में वह अपने देवको परमऐश्वर्य्यवान् मानने पर भी उस देव के साथ व्यक्ति का संबंध हो नहीं सकता ऐसी भावना के लिए वहां मनुष्य व्यक्ति का मान कम हो गया है। वहां मनुष्य

व्यक्ति की गणना करने का अवकाश ही नहीं रहता कारण कि उस धर्म्म में दिव्य व्यक्ति को ही समाज के हित के साधन रूप माना होता है। ईसाई धर्म्म के एकेश्वरवाद में मनुष्य व्यक्ति को समाजहित का साधनरूप केवल न मानकर मनुष्य व्यक्ति के हित को भी स्थान मिला हुआ है। ईश्वर प्रेममय है, इसका कारण या तो कल्पना अथवा दृढ़ विश्वास है। एक व्यक्ति प्रेम का विषय भी हो और स्वयं विषय हो ऐसी कल्पना से मनुष्य और दिव्य व्यक्ति का गौरव बढ़ जाता है और व्यक्ति केवल साधनरूप न मानकर स्वतंत्र भी माना जाता है।

ईश्वर के मनुष्य पर प्रेम की तथा मनुष्य का अपने पड़ोसी तथा ईश्वर के प्रेम की ईसाई धर्म्म में ऐसी भावना की गई है कि उस भावना से व्यक्ति समाज और ईश्वर पूजा का वास्तविक अर्थ ईसाई धर्म्मानुयायी को ठीक समझ में आता है। मनुष्य का ईश्वर के साथ का संबंध अर्थात् धर्म्म की ऐसी भावना किसी भी स्थान पर देखने में नहीं आती इससे हम तत्वज्ञान की दृष्टि से ऐसा कह सकेंगे कि यह भावना बिलकुल नई है। मनुष्यों का ईश्वर के साथ कैसा संबंध है इस प्रश्न का निर्णय करने में जिन प्रयोगों की योजना अपने अपने समय में मनुष्योंने की है उन प्रयोगों के लिए इस भावना के कारण नई दिशा खुली है। हम ऐसा भी कह सकते हैं ईसाई धर्म्म मानता है ऐसे प्रेम का बल भी एक नया ही बल है। प्रेम शब्द का जो अर्थ ईसाई धर्म्म में किया गया है उसी अर्थ में प्रेम एक नए

बलरूप मनुष्य का उसके पड़ोसी के साथ का तथा ईश्वर के साथ का संबंध का निर्णय करने में सहायतार्थ होता है ऐसा हमें ज़ोर से कहना चाहिए।

धर्म्म के इतिहास में ईसाई धर्म्म का स्थान निश्चित करने के लिए अर्थात् ईसाई धर्म्म के साथ मुकाबला करके तुलनात्मक पद्धति से जिन जिन धर्म्मों के स्वरूपों का निरीक्षण किया गया है उन स्वरूपों में कितनी समता है तथा कितनी विषमता है यह समझने के लिए प्रेम पर बताए हुए अर्थ पर ज़ोर देने की जरूरत है।

ईसाई धर्म्म उत्पन्न हुआ इससे पूर्व हज़ारों वर्ष तक जहां जहां मनुष्यों का समाज बना होगा वहां वहां मनुष्य अपने जाति के भाइयों पर प्रेम रखते ही होंगे ऐसा हमें मान लेना पड़ता है कारण कि इसके अभाव में समाज इकट्ठा रह ही न सके। हम प्रेमका अस्तित्व केवल अनुमान पर से ही इस प्रकार मान लेते हैं इस लिए प्रेम यह समाज के निर्माणका प्रयोजक बल है ऐसा उस समय की प्रजा में बहुत ही थोड़े अंश में होना चाहिए और प्रेम के अलावा दूसरे भी कई प्रयोजक बल अस्तित्व रखने वाले होंगे ऐसा इस पर से सिद्ध होता है। जीवन युद्ध चलाना, आत्मरक्षा करनी और समाज संरक्षण जो एक प्रकार से आत्म संरक्षण है उस में प्रवृत्त रहना यह प्रकृति का मुख्य धर्म्म है। उस समय के मनुष्य यद्यपि अपनी ही समाज के मनुष्यों पर ज्ञानपूर्वक या अज्ञान से थोड़ा बहुत प्रेम कभी रखते होंगे

तो भी अपनी समाज का निर्माण दृढ़ रखने के लिए तथा उसके उत्कर्ष के लिए अपने विरोधियों पर वह प्रेम नहीं रखते हों ऐसा हमें मानना पड़ता है।

यज्ञ के अंग रूप किए जाने वाले भोजन समारंभ पर से हम समझ सकते हैं कि जिन देवताओं की, समाज की रक्षा तथा अभिवृद्धि के लिए वह प्रार्थना करते थे उन देवताओं पर वह थोड़ा बहुत प्रेम रखते थे। परंन्तु यज्ञ को मुख्य धर्म्म क्रिया रूप मानने वाले सब धर्म्मों के इतिहास से प्रतीत होता है कि वह देवों का तथा उनके पूजा करने वालों का परस्पर प्रेम इष्ट सिद्धि का आधार है, ऐसा वह नहीं मानते थे; परन्तु क्रिया यथा विधि करने पर तथा प्रतिज्ञा के पालन करने पर इष्ट सिद्धि का आधार है ऐसा वह मानते।

इस प्रकार प्रथम से ही मनुष्य अपने पड़ोसियों पर तथा ईश्वर पर थोड़ा बहुत प्रेम रखते थे और इस प्रेम के अस्तित्व से इतने अंश में ईसाई धर्म्म की दूसरे धर्म्मों के साथ समता है, यह बात बहुत ही सूक्ष्म रीति पर देखने से प्रतीत हो जाती है। परन्तु प्राचीन समाज के मनुष्यों में रहे हुए इस प्रेम में, और ईसाई धर्म्म में एक मुख्य सत्य रूप तथा मार्गदर्शक सिद्धान्त रूप स्वीकार किए गए प्रेम में बहुत फर्क है तथा इस प्रेम की भावना से पूजा की, समाज मनुष्य और दिव्य व्यक्ति की कल्पना में किए गए परिवर्तन पर से हम को उसकी महत्ता का ख्याल आसकता है।

जहां पूजा विधि की समाप्ति यज्ञ क्रिया में हो गई देखने में आती है वहां यज्ञ क्रिया द्वारा समाज अपने ईश्वर के समक्ष जा सकता है। परन्तु यह क्रिया समाज की व्यक्ति और ईश्वर के बीच एक भेद रूप होता है। ऐसा हमने याहूदी धर्म्म में देखा है। ब्राह्मण धर्म्म में यह भेद रूप यज्ञ क्रिया को ही एक परम तत्व रूप गिना गया है और इस लिए देवता भी अति गौण हो गए हैं। दूसरे कई प्राचीन धर्म्मों में समाज के मनुष्यों को ईश्वर पूजा का स्वतंत्र अधिकार न मिलने से वह अपने हित के लिए निजू रीति पर यज्ञ करने में या जादु क्रियाओं में प्रवृत्त देखे जाते हैं। इस की पूजा करने वाले तथा ईश्वर और मनुष्य संबंधी विषयक कल्पना पर खराब असर हुआ है।

जिन बातों को समाज विरुद्ध और अधार्म्मिक मान कर स्वयं धिक्कार करता है उन बातों को सिद्ध करने के लिए जादु का आश्रय लिया जाता है और जादु का उपयोग करने वाले मनुष्य खुद धर्म्म और नीति के नियम विरुद्ध आचरण करने में फतेहमंद होंगे ऐसा मान बैठते हैं। इसका परिणाम ऐसा होता है कि जिन के अस्तित्व और जिन की प्रवृत्तियों से समाज को नुक्सान हो ऐसे मनुष्यों की संख्या बढ़ती है और इस को रोका न जाए तो समाज की हानि होने की संभावना है।

जादु से निजू यज्ञ अधिक हानिकारक होते हैं कारण कि उन पर दुर्लक्ष्य किया जाता है। धार्म्मिक भावना के कारण जादु को तत्काल धिक्कार दिया जाता है परन्तु निजू यज्ञों को

वैसा नहीं करते। केवल याहूदी लोगों में ही निजू यज्ञों का तिरस्कार किया जाता है। जबतक यज्ञ समाज के हित के लिये ही किए जाते हैं तबतक आत्महितका प्रश्न एक ओर रहता है। परन्तु जब एक व्यक्ति के हित के लिये निजू यज्ञ किये जाते हैं और जब ऐसे धर्म्म का अङ्ग मानेजाते हैं तब धर्म्म के अर्थात् मनुष्यों के अपने देवता संबंधी स्वरूप में खास परिवर्तन होता है और धर्म्म की भावना की अधोगति होती है। यज्ञ क्रिया एक व्यापार रूप होजाती है और उसमें सर्वांश में वणिक् वृत्ति प्रवेश कर जाती है तथा मात्र स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ही यज्ञ करनेकी आवश्यकता है ऐसा सब कोई मानने लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य की और देवकी अप्रानिष्ठा होती है। देव सामान्य व्यापारी के दर्जे पर आजाता है और मनुष्य केवल स्वार्थी बनजाता है।

इस प्रकार होने से यज्ञ क्रिया में समाई हुई उपासना की भावना नष्ट हो जाती है और रूढ़ि के प्राबल्य से यद्यपि क्रिया वैसी की वैसी रहती है तो भी उसमें धार्म्मिक अंश उड़-जाता है। ऐसी समाज के मनुष्यों का स्वतंत्र हक नहीं स्विकार करनेवाली अथवा मनुष्य की और देवकी अप्रातिष्ठा हो इस प्रकार मनुष्य व्यक्ति का स्वतंत्र पूजा का हक स्वीकार करने की धार्म्मिक क्रिया का ईसाई धर्म्म में अंतर्भाव नहीं हुआ। मनुष्य का अपने पड़ोसी पर तथा अपने ईश्वर पर के प्रेम के आधार पर रचे हुए संप्रदाय में स्वार्थ वृत्ति को स्थान नहीं रहता।

पूजा अथवा उपासना मानसिक ही हो सकती है और निराश जीवका तथा पश्चात्ताप युक्त मनका बलिदान करना यही यज्ञ है ऐसा जिस धर्म्म में प्रगट किया गया है उस धर्म्म में पशु इत्यादि की बलि को धार्म्मिक क्रिया के रूप में नहीं माना जाता।

इस विश्वास के अनुसार ईसाई धर्म्म की यज्ञों द्वारा अपने ईश्वर की पूजा करने वाले समाज की भावना में परिवर्तन तथा विस्तार हुआ है। जहां तक यज्ञ और उपासना को भिन्न नहीं मानकर एक माना जाता था तब तक यज्ञ में भाग लेने वाला समाज की व्यक्तियों को ही उपासक गिना जाता तथा समाज वृद्धि होती तब अपने ही देवका यज्ञ करनेवाला दूसरी तरह के उपासको में भी समावेश किया जाता। यह बात हमको धार्म्मिक इतिहास पर से प्रगट होती है। अर्थात् पशु यज्ञों में भागलेने वालों का ही उपासक श्रेणी में प्रवेश हो सकता था। ऐसे प्रतिबंध के लिये ऐसे धर्म्म का सर्वत्र प्रचार नहीं हो सकता था परन्तु जब ईसाई धर्म्म ने यज्ञ और पूजा अथवा उपासना का भेद प्रगट किया तब पूजा करने वाले अथवा ' उपासक ' इन शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन हुआ और उसका संकुचित अर्थ हट कर वह शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ। पूजा का अर्थ आध्यात्मिक संबंध है और बद्ध और मुक्त स्वधर्म्मी तथा परधर्मी कोई भी प्रभु के साथ अपना संबंध जोड़ सकता है ऐसी पूजा की भावना ने उस शब्द के अर्थ में ऊपर बताए अनुसार परिवर्तन तथा विस्तार किया।

ईसाई धर्म्म की पूजा की कल्पनाने समाज की कल्पना में इस से भी विशेष परिवर्तन किया है। दुनिया के सब धर्म्मों में समाज के मनुष्यों का तथा उन के देव का 'समाज' में समावेश किया गया है कारण कि यज्ञ में किए जाने वाले भोजन समारंभों मे देव और उन के पूजा करने वाले भाग लेते थे और यज्ञ द्वारा पूजा करने वाले अपने इष्ट देव के सामने पहुंच सकते। परन्तु ज्यूं ज्यूं अनेक देव वाद वृद्धि करता गया त्यूं त्यूं मनुष्य व्यक्ति के हित का नहीं परंतु समाज के हित की रक्षा करने वाले देवों का भी एक भिन्न ही समाज माना जाने लगा और तब भी देवों का और समाज का संबंध यज्ञों द्वारा हो सकता है यह विश्वास तो प्रचलित रहा। परन्तु जितने अंश में यज्ञ किसी भी प्रकार के लाभ के लिए किए जाने लगे उतने अंश में उन के आध्यात्मिक स्वरूप में परिवर्तन होता गया। ऐसी धार्म्मिक भावना का विरोध संबंध बहुत देर तक न स्थित रह कर, मनुष्य और देवों को अलग कर दे यह संभव था। इस के अनुसार देवों की समाज मनुष्यों की समाज से भिन्न मानी जाने लगी और यज्ञ की धार्म्मिक क्रिया इन दो समाजों को एकत्र नहीं रख सकी।

ईश्वर प्रेममय है और मनुष्य अपने पड़ोसी पर और अपने ईश्वर पर प्रेम रखे इस ईसाई धर्म्म के सिद्धांतने पूजा करने वालों के समुदाय को जिस ईश्वर के राज्य लाने के लिए 'लाईस प्रेयर' में पहले ही मांगा है उस ईश्वर के राज्य में अंतर्भाव

कर दिया है। पूजा करनेवालों का समुदाय ईश्वर के साथ व्यवहार कर सकता है और प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का उपासक हो सकता है। यज्ञ क्रिया से नहीं परन्तु मात्र पूजा से ही जिस ईश्वर के साथ कोई मनुष्य व्यक्ति अपना संबंध जोड़ सकता है ऐसा ईश्वर अमुक जाति का कि अमुक प्रजा का ईश्वर नहीं परन्तु सारी दुनियां का ईश्वर है।

सर्वत्र दृष्टिगत मनुष्यों के ईश्वर के साथ के संबंध को धर्म्म कहते हैं और भिन्न भिन्न धर्म्मों में इस संबंध को भिन्न भिन्न स्वरूप दिया गया है। सब धर्म्मों में इस संबंध के ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं ऐसा हम कह सकते हैं। जहां समाज का ही उस के देवता के साथ संबंध है ऐसा माना गया है वहां समस्त समाज ही यज्ञसे अपने देव की पूजा कर सकता है और उस समाज के मनुष्यों को स्वतंत्र पूजा करने का अधिकार नहीं होता अर्थात् वहां मनुष्यों का व्यक्ति स्वातंत्र्य स्वीकार नहीं किया जाता। जहां बहुत कर के निजू यज्ञ किए जाते हैं अथवा जहां जादु का प्रयोग प्रचलित रहने देते हैं वहां इस संबंध पर बहुत ही गहरा असर होता है और देवताओं को एक मनुष्य व्यक्ति की इष्ट सिद्धि के मात्र साधनरूप ही माना जाता है ऐसा होने से व्यक्तित्व की कल्पना में स्वार्थ का समावेश होता है और इतने ही पर नहीं रुककर व्यक्तित्वकी कल्पना में और व्यक्ति की प्रवृत्ति मे स्वार्थ की प्रधानता हो जाती है। तथापि वह अर्थ जो ईसाई मत पूजा के भावों और समाज का करता है

वह उसके व्यक्तित्व के भिन्न भिन्न भावों का जो दैवी और मनुष्य संबंधी है बोधक है और यह भावना इस मत की विशेषता है। दूसरे धर्म्मों में जिस का ध्यान भी नहीं आया ऐसी व्यक्तित्व की सर्वोत्कृष्ट भावना को बताने वाली यह आध्यात्मिक अथवा मानसिक पूजा का और स्वार्थ रहित समाज की भावनाएं हैं। ईसाई धर्मानुसार पूर्णता को प्राप्त मानुष व्यक्ति दिव्य प्रेम का अवतार रूप है और वह दिव्य व्यक्ति अर्थात् ईश्वर प्रेममय है। 'प्रेम' यह शब्द व्यक्तित्व का संपूर्ण ज्ञान देने वाला है कारण कि ईसाई धर्म्मानुसार प्रेम यही व्यक्ति का आत्मा है।

इति.

श्री सयाजी साहित्यमाळा
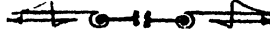
प्रकाशित पुस्तकें	(गुजरातीमें)	मूल्य.
१. विज्ञान-गुच्छः—		
२	भूपृष्ठविचार (सचित्र)	०-१०-०
११	देहधर्मविद्यानां तत्त्वो.	१- ०-०
१२	विज्ञानप्रवेशिका.	०-११-०
१३	जिंदगीनो विमो.	०-११-०
१७	उद्भिज्जाविद्यानुं रेखादर्शन (सचित्र).	१- ०-०
१८	करोळीया (सचित्र).	०-१४-०
२२	प्राणीविद्यानुं रेखादर्शन (सचित्र).	१- ०-०
२५	मनुष्यविद्याना तत्त्वो.	१- ०-०
३५	जीवविद्या (सचित्र).	१- ०-०
३८	तुलनात्मक भाषाशास्त्र.	१०- ४-०
४६	राजनीतिनो संक्षिप्त इतिहास.	१- ४-०
४७	समाजशास्त्र प्रवेशिका.	०-१४-०
१८	बाळउछेर.	
५०	बाळस्वभाव अने बाळउछेर.	१- ८-०
५१	शरीरयंत्रनुं रेखादर्शन (सचित्र).	१- ४-०
७०	रसायन प्रवेशिका (सचित्र).	१- ४-०
७५	वडोदरानुं अर्थशास्त्र.	०-१२-०
२ चारित्र-गुच्छः—		
८	प्रेमानंद (सचित्र).	१- ०-०
१४	दयाराम.	०-११-०

१०	मीरांबाई.	०-११-०
३०	गिरधर.	०-१४-०
३३	भालण (सचित्र).	१- ०-०
४१	महाराजा शिवाजी (मराठी) (सचित्र).	१- ६-०
४५	विष्णुदास.	१- ०-०
४९	वीर शिवाजी (सचित्र).	१- ०-०
५३	मणिशंकर कीकाणी.	१- ६-०
६२	दलपतराम.	१- २-०

३ इतिहास-गुच्छः—

१	संस्कृत वाङ्मयाचा इतिहास. (मराठी)	२- ८-०
९	जगत्नो वार्तारूप इतिहास, भाग १ लो.	३- ८-०
१९	ब्रिटिश राष्ट्रीय संस्थाओ.	०-१३-०
२४	पॅलेस्टाईनना संस्कृति.	०-१२-०
२६	जगत्नो वार्तारूप इतिहास, भाग २ जो	३- ०-०
३१	पार्लामेंट.	१- ४-०
३४	इतिहासनुं प्रभात.	१- ४-०
४३	नवीन जपाननी उत्क्रांति.	१- ०-०
५५	चीननी संस्कृति.	१ ६-०
६५	हिंदुस्थानाचा अर्वाचीन इतिहास-मराठी रियासत (मध्यविभाग) (मराठी).	२-१२-०

४ वार्ता-गुच्छः—

३	आपणा लघुबन्धु अंग्रेज.	१- ०-०
४	अलकानो अद्भुत प्रवास (सचित्र).	१- ६-०
१६	वीर पुरुषो.	०-१२-०

५ धर्म्म-गुच्छः—

६	हिंदुस्ताननां देवो (सचित्र).	४- ०-०

श्री सयाजी बालज्ञानमाळा.

छपायेलां पुस्तको:— (गुजराती)		किंमत.
(१) गिरनारनुं गौरव	(सचित्र)	०—६—०
(२) ऋतुना रंग (बीजी आवृत्ति)		०—६—०
(३) शरीरनो संचो (बीजी आवृत्ति)	(सचित्र)	०—६—०
(४) महाराणा प्रताप	(सचित्र)	०—६—०
(५) कोषनी कथा	(सचित्र)	०—६—०
(६) पाटण—सिद्धपुरनो प्रवास		०—६—०
(७) पावागढ		०—६—०
(८) औरंगझेब	(सचित्र)	०—६—०
(९) मधपुडो	(सचित्र)	०—६—०
(१०) रणजीतसिंह	(सचित्र)	०—६—०
(११) सुखी शरीर		०—६—०
(१२) श्रीहर्ष		०—६—०
(१३) सूर्यकिरण	(सचित्र)	०—६—०
(१४) वातावरण		०—६—०
(१५) ग्रहण	(सचित्र)	०—६—०
(१६) बालनेपोलीअन		०—६—०